इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इन्दिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD-09
कहानी : स्वरूप और विकास

खंड

5
हिन्दी साहित्य में कहानी

इकाई 17
प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंद कालीन हिंदी कहानी 5

इकाई 18
प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी 17

इकाई 19
नई कहानी और साठोत्तरी कहानी 27

इकाई 20
समकालीन हिन्दी कहानी 45

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. रामदेव शुक्ल
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दी.द.उ.गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रो. लक्ष्मण सिंह बिष्ट बटरोही
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रोफेसर, हिन्दी, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. गोपाल राय
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

श्री ज्ञानरंजन
प्रख्यात कथाकार एवं संपादक
जबलपुर, मध्य प्रदेश

डॉ. विजय बहादुर सिंह
प्रख्यात आलोचक
भोपाल, मध्य प्रदेश

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

खंड संयोजन, संशोधन एवं संपादन

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई संख्या
डॉ. विनोद तिवारी असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	17
प्रो. लक्ष्मण सिंह विष्ट बटरोही अवकाश प्राप्त प्रोफेसर (हिन्दी) कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल	18
प्रो. सत्यकाम प्रोफेसर (हिन्दी) मानविकी विद्यापीठ,इग्नू, नई दिल्ली	19
प्रो. देवेन्द्र चौबे प्रोफेसर (हिन्दी) भारतीय भाषा केन्द्र, जे. एन. यू. नई दिल्ली	20

विशेष सहयोग : सुश्री नमिता सत्येन

सहयोग : श्री अरुण कुमार पाण्डेय, सुश्री निवेदिता, श्री शंभुनाथ मिश्र, सुश्री लकी चौधरी

सचिवालयिक सहयोग : सुश्री हेमलता

सामग्री निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

अप्रैल, 2015

© *इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,* 2015

ISBN : 978-81-266-6862-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक, मानविकी विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

Paper Used : "Agro based Environment Friendly"

लेजर टाइप सेटिंग : एच. डी. कंम्यूटर क्रॉफ्ट, डब्लु जैड 36ए, लाजवंती गार्डन, नई दिल्ली 110046

मुद्रक : राज प्रिंटर्स, ए–9, सैक्टर बी–2, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद (उ. प्र.)

खण्ड-5 परिचय

यह कहानी संबंधी माड्यूलर के पहले पाठ्यक्रम 'कहानी : स्वरूप और विकास' का पाँचवां खण्ड है। इस खण्ड का शीर्षक है–हिन्दी साहित्य में कहानी । इस खण्ड में कुल चार इकाइयाँ हैं जो इस प्रकार हैं –

इकाई – 17 प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंद कालीन हिन्दी कहानी

इकाई – 18 प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी

इकाई – 19 नयी कहानी और साठोत्तरी कहानी

इकाई – 20 समकालीन हिन्दी कहानी

इस खण्ड में हिन्दी कहानी के विकास का अध्ययन किया गया है। इसमें शामिल इकाइयों में जो सामग्री दी गई है, उसका उद्‌देश्य हिन्दी कहानी के विकास से परिचित कराना है। प्रेमचंद के बिना हिन्दी कहानी पर कोई बातचीत नहीं की जा सकती इसलिए इस खण्ड की पहली इकाई में प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंद कालीन हिन्दी कहानी पर विचार किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप हिन्दी कहानी के आधार का पता पा सकेंगे/सकेंगी। खण्ड की दूसरी इकाई में प्रेमचंद के बाद की हिन्दी कहानी पर विचार करते हुए कुछ प्रमुख कहानीकारों के योगदान को रेखांकित किया गया है। इकाई संख्या 19 में नयी कहानी और साठोत्तरी कहानी की विशेषताओं का रेखांकन है। यहाँ यह याद दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि इस दौर में हिन्दी को बेहद प्रतिभाशाली कथाकार मिले। इस खण्ड की अंतिम इकाई (जो कि पाठ्यक्रम की भी अंतिम इकाई है) में समकालीन कहानी के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप हिन्दी कहानी के समकालीन परिदृश्य को जान सकेंगे/सकेंगी।

हमें विश्वास है कि इस पूरे पाठ्यक्रम के अध्ययन के पश्चात आप कहानी संबंधी अवधारणाओं को ठीक से समझ सकेंगे/सकेंगी।

शुभकामनाओं सहित।

THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 17 प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंद कालीन हिंदी कहानी

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 प्रेमचंद पूर्व हिन्दी कहानी

17.2.1 प्रेमचंद–पूर्व हिन्दी कहानी का इतिहास

17.2.2 प्रेमचंद–पूर्व हिन्दी कहानी का विकास

17.2.3 प्रेमचंद–पूर्व हिन्दी कहानी की प्रवृत्तियाँ

17.3 प्रेमचंद और हिन्दी कहानी

17.3.1 हिन्दी कहानी में प्रेमचंद का आगमन

17.3.2 प्रेमचंद की प्रारंभिक दौर की कहानियाँ

17.3.3 प्रेमचंद की कहानियों का विकास : आदर्श और यथार्थ का द्वंद्व

17.4 प्रेमचंद कालीन हिन्दी कहानी

17.4.1 प्रेमचंद कालीन हिन्दी के प्रमुख कहानीकार

17.4.2 जयशंकर प्रसाद और हिन्दी कहानी

17.4.3 प्रेमचंद–कालीन हिन्दी कहानियों की अन्य प्रवृत्तियाँ

17.5 सारांश

अभ्यास

17.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से संबंधित मॉड्यूल के पाठ्यक्रम 'कहानी : स्वरूप और विकास' से संबंधित पाँचवें खण्ड–'हिन्दी साहित्य में कहानी'–की 17वीं इकाई है। इस इकाई के अन्तर्गत् 'प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंदकालीन हिन्दी कहानी' से संबंधित कहानी की प्रकृति और प्रवृत्ति पर ध्यान दिया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप प्रेमचंद–पूर्व, प्रेमचंद और प्रेमचंद–कालीन हिन्दी कहानी के विकास और स्वरूप के विभिन्न रूपों को समझ सकेंगे/सकेंगी।

17.1 प्रस्तावना

'कहानी : स्वरूप और विकास' नामक पाठ्यक्रम के इस पाँचवें खंड के पहले चार खंडों में सोलह इकाईयों के अन्तर्गत कथा और आख्यान के विभिन्न रूपों, कहानी के अर्थ और स्वरूप, कहानी का अन्य गद्य–विधाओं के साथ रिश्ता, हिन्दी कहानी के उदय की कहानी, कहानी में वस्तु और शिल्प, कहानी की भाषिक संरचना, कहानी का वर्गीकरण और उसके आधार, वैश्विक आधार पर कहानी–आलोचना की परंपरा, यूरोप में कहानी, अमेरिका में

कहानी, एशिया में कहानी, लैटिन अमेरिकी और अफ्रीकी देशों में कहानी, भारत में कथा–कहानी के विभिन्न स्रोतों एवं सन्दर्भों, नवजागरणकालीन भारतीय कहानी, राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में भारतीय कहानी, स्वतंत्रता के बाद भारतीय कहानियों का विकास इत्यादि की महत्त्वपूर्ण जानकारी आप प्राप्त कर चुके हैं।

कहानी के इस व्यापक परिदृश्य में प्रस्तावित 5वें खंड के अन्तर्गत 17वीं इकाई में एक तरह से आप हिन्दी कहानी के उद्‌भव, विकास और स्वरूप का अध्ययन करने जा रहे हैं। अन्य गद्य–विधाओं की तरह कहानी विधा भी आधुनिक–युग में आकर अपना महत्त्वकारी स्वरूप ग्रहण करती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिस आधुनिक हिन्दी को 'गद्य काल' कहा गया है उसमें कहानी की केन्द्रीय भूमिका है। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना (1800 ई.) के साथ ही, इसके प्रिंसिपल जॉन गिलक्रिस्ट की योजना के तहत अनुवाद और हिन्दी/हिन्दुस्तानी गद्य की पुस्तकें लिखवायी गईं। इसमें बहुत सारी ऐसी पुस्तकें भी थीं जिनका संबंध आख्यान, किस्सा, वृत्तांत इत्यादि से था। सैयद इंशाअल्ला खाँ द्वारा लिखित 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (1800 के आसपास) इनमें प्रमुख है। आगे चलकर राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने पाठ्‌यक्रम के उपयोग के लिए कई कहानियाँ लिखीं, मसलन–'राजा भोज का सपना', 'वीर सिंह वृत्तांत', 'आलसियों का कोड़ा' इत्यादि।

परंतु, इन प्रारंभिक कहानियों को हम 'कहानी' की दृष्टि से एक आरंभ मात्र मान सकते हैं–आख्यायिका या वृत्तांत के रूप। जिसे हम आधुनिक हिंदी कहानी कहते हैं उसकी शुरुआत बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में ही होती है। दूसरे, तीसरे दशक में जाकर इसका एक रूप स्थिर होता है और प्रेमचंद के हाथों यह विश्व–कहानी के समानांतर खड़ी होती है।

17.2 प्रेमचंद पूर्व हिन्दी कहानी

कविता की तरह कहानी को भी इतिहास की आदि–विधा माना जा सकता है; चाहे वह आज गद्य में लिखी जाती हो, या इससे पहले पद्य में या उससे भी पहले संकेतों में। पद्यमय गीतों के माध्यम से रस ग्रहण करते हुए भी समाज–शिक्षा या उपदेश के लिए नेपथ्य में चलने वाली 'कहानी' ही मनुष्य को अधिक बाँधती रही है। आधुनिक युग में गद्य के उदय से पूर्व भावपूर्ण लोक कथाओं से उन कथा–स्थितियों का अनुमान किया जा सकता है जिसमें से आज की 'कहानी' का विकास संभव हुआ है। वैदिक युग से लेकर आज उत्तर–आधुनिक समय तक कहानी के विकास की कहानी 'मनुष्य' होने की कहानी है। ऋग्वेद के यम–यमी, पुरुरवा–उर्वशी आदि के संवाद, उपनिष्दों के रूपकीय आख्यानों, नहुष, ययाति आदि के उपाख्यानों से लेकर बौद्ध जातक–कथाओं, पुराणों, रामायण और महाभारत की कथाओं–उपकथाओं के प्राचीनतम रूपों से लेकर वृहत्कथा, कथासरित्सागर, पंचतंत्र, हितोपदेश तक, उससे आगे विक्रमादित्य, मुंज, भोज आदि राजाओं के शौर्य और प्रणय की गाथाओं तक कहानी निरंतर मनुष्य के अधिक बुद्धिमान, सतर्क और अनुभवी होते जाने की कहानियाँ हैं। आगे चलकर इन्हीं कथारूपों में अरबी–फ़ारसी दास्तानों का मेल हुआ। जिसे हम आधुनिक कहानी कहते हैं, उसमें संस्कृत, प्राकृत, अरबी–फारसी के साथ ईसप की कहानियों का एक मिश्रित ढंग है। सिंहासन बत्तीसी, बेताल पच्चीसी, माधवानल कामकन्दला, राजा भोज का सपना, रानी केतकी की कहानी, देवरानी–जेठानी की कहानी इत्यादि इसके प्रारंभिक उदाहरण हैं।

17.2.1 प्रेमचंद–पूर्व हिन्दी कहानी का इतिहास

प्रेमचंद पूर्व हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि में इसी परिदृश्य की कहानियाँ मिलती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में जिन तीन कहानियों का विशेष उल्लेख मिलता है उनमें–मुंशी इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी', राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की कहानी 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', प्रमुख हैं। कुछ इतिहासकारों और आलोचकों ने 'रानी केतकी की कहानी' को हिंदी की पहली कहानी के रूप में मान्यता दी है परंतु अधिकतर आलोचकों का मत है कि, इसमें आधुनिक कहानी का ढ़ब और ढंग नहीं मिलता है। 'राजाभोज का सपना' और 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' के बारे में भी यही मत है। सही मायनों में, अन्य गद्य–विधाओं के विकास की तुलना में भारतेन्दु युग में कहानी–कला का विकास नहीं हुआ।

हिन्दी कहानी की वास्तविक शुरुआत बीसवीं शताब्दी से ही माननी होगी। 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही एक तरह से हिन्दी कहानी का जन्म होता है।बीसवीं सदी के पहले दशक में जिन प्रारंभिक छः कहानियों का उल्लेख मिलता है, वे इस प्रकार हैं–

1. इंदुमति (1900)–किशोरीलाल गोस्वामी
2. गुलबहार (1902)–किशोरीलाल गोस्वामी
3. प्लेग की चुड़ैल (1902)–मास्टर भगवान दास
4. ग्यारह वर्ष का समय (1903)–रामचंद्र शुक्ल
5. पंडित और पंडितानी (1903)–गिरिजा दत्त वाजपेयी
6. दुलाईवाली (1907)–बंगमहिला

17.2.2 प्रेमचंद–पूर्व हिन्दी कहानी का विकास

'इंदुमति' हिन्दी की पहली कहानी के रूप में मान्य है। शेक्सपियर के नाटक 'टैम्पेस्ट' की छाप इस कहानी पर है। वातावरण तो भारतीय है परंतु कथानक पर 'टेम्पेस्ट' हावी है। इस प्रभाव के चलते ही कुछ आलोचक इसे मौलिक कहानी न मानते हुए 'ग्यारह वर्ष का समय' अथवा 'दुलाई वाली' को हिन्दी की पहली कहानी मानने के पक्ष में हैं परंतु प्रभाव मात्र से इसकी मौलिकता खारिज नहीं होती। किशोरी लाल गोस्वामी ने वर्णन शैली और कथ्य दोनों ही तरह से इसे मौलिक बनाने का प्रयत्न किया है। 'गुलबहार' और 'प्लेग की चुड़ैल' में कहानी–कला के तत्त्व कम हैं। कहानीकला के तत्त्वों के अनुरूप मौलिक प्रयास के रूप में 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली' ही उल्लेखनीय हैं। इनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के यथार्थ का अच्छा परिचय मिलता है। भाषा और कहन की दृष्टि से, आधुनिक लक्षणों की दृष्टि से 'दुलाईवाली' में जो निखार है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 1911 ई. में काशी से 'इंदु' नामक पत्रिका का संपादन शुरू हुआ। 1911 ई. में जयशंकर प्रसाद की कहानी 'ग्राम' का प्रकाशन 'इंदु' में हुआ। 'इंदु' में ही राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानी 'कानों में कंगना' का प्रकाशन 1913 ई. में हुआ। आगे चलकर हिन्दी कहानी में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले पं. विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक की पहली कहानी 'रक्षाबंधन' 1913 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। यह समय अनुवाद,

रूपांतरण, छाया–प्रभावों और हिन्दी कहानी की प्रौढ़ता के लिए किए जाने वाले मौलिक प्रयत्नों के साथ वस्तुतः प्रयोग का काल है।

हिंदी में कहानी की स्वाभाविक मौलिक मनोभूमि का विकास पहली बार सन् 1915 ई. में तब दिखता है जब 'सरस्वती' में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' का प्रकाशन होता है। एक तरह से हिन्दी की आधुनिक कहानी का प्रारंभ यहीं से होता है। 'उसने कहा था' हिन्दी कहानी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसमें त्याग और बलिदान की भारतीय परंपरा और आधुनिक कथा–शिल्प की विदेशी उपलब्धियों का ऐसा कुशल संयोजन है कि वह अनायास ही हिन्दी कहानी को एक समृद्ध धरातल दे देती है। साहित्येतिहासकार और आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी का कहना है कि, "जिस प्रकार अंग्रेजी लेखिका ऐमिली ब्रांटे अपने एक उपन्यास 'बुद्रिंग हाइट्स' के लिए अमर हैं उसी प्रकार चंद्रधर शर्मा गुलेरी अपनी एक कहानी के लिए।" हिन्दी कहानी की परिपक्वता का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है 'उसने कहा था'। इसके साथ ही हिन्दी कहानी अपनी स्वतंत्र अस्मिता स्थापित करने की ओर अग्रसर हो जाती है और प्रेमचंद के हाथों आकर विश्व कहानी के समानांतर स्थापित होती है।

17.2.3 प्रेमचंद–पूर्व हिन्दी कहानी की प्रवृत्तियाँ

वातावरण, घटना, कथानक, चरित्र, संवेदन सभी दृष्टियों से प्रेमचंद पूर्व हिन्दी कहानी अपनी प्रवृत्तियों में आदर्शात्मक रोमान के साथ–साथ उपदेशात्मक धरातल पर खत्म होती हैं। 'रानी केतकी की कहानी' तो राजा उदयभान और रानी केतकी की प्रेमकथा को 'राजा–रानी' की कहानी की तरह ही बयाँ करती है। इस बयान में ब्यौरेवार विवरण वस्तु–सत्य को ओझल कर देता है। सैकड़ों वर्षों से चली आ रही किस्सागोई की मौखिक परंपरा से यह कहानी छूट नहीं पाई है। इस कहानी से हिन्दी कहानी को दिशा तो जरूर मिलती है पर यह कहना भी जरूरी लगता है कि इस कहानी का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है और शैली कुछ और।

प्रेमचंद पूर्व कहानियों में बहुरूपता तो मिलती है परन्तु उसमें सूक्ष्म मानवीय भावों की पकड़ या पर्यवेक्षण नहीं मिलता जिसे आगे चलकर, प्रेमचंद, प्रसाद, सुदर्शन या कौशिक ने विकसित किया। शायद इसका कारण यह हो सकता है कि जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न रहा हो इसीलिए, एक तरह का वैचित्र्य, कुतूहल, रोमांस प्रेमचंद की पूर्ववर्ती कहानियों की प्रवृत्ति है। इस युग की कहानियों में दृष्टांत का रूपांतरण गल्प में नहीं हो पाया। इसलिए, इतिहास, मिथक, चमत्कार, अंधविश्वास, जादू, तिलिस्म आदि कथा–दृष्टांतों और प्रसंगों को कहानी के पूरक के रूप में प्रयोग किया गया है। अतएव, प्रेमचंद पूर्व की कहानियों से विचारों को उत्तेजित करने के लिए आपको कुछ नहीं मिलेगा हाँ, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए वहाँ कुछ न कुछ अवश्य मिल जाएगा। घटना प्रधान होने के कारण ज्यादातर कहानियाँ आकस्मिकता और तद्जनित कौतूहल का निर्माण करने में ज्यादा दिलचस्पी लेती हैं। इन कहानियों में पात्रों/चरित्रों का कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं होता है वरन् घटनाएँ, चरित्रों को परिस्थितिवश नियंत्रित और विस्तारित करती चलती हैं। विलक्षण काल्पनिक घटनाओं के निर्माण में इस दौर के कहानीकारों का मन विशेष रूप से रमता है। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की कहानी 'राजाभोज का सपना' और भारतेन्दु हरिश्चंद्र की कहानी 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' को भी इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

17.3 प्रेमचंद और हिंदी कहानी

प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को एक नई जमीन और दिशा प्रदान की। एक युगनिर्माता कहानीकार के रूप में हिन्दी कहानी को उन्होंने जो स्थापत्य दिया वह विचार और कला दोनों ही दृष्टियों से युगप्रवर्तनकारी है। प्रेमचंद ने शुरू में अपने मूल नाम धनपत राय की जगह नवाब राय के नाम से उर्दू में कहानियाँ लिखना प्रारंभ किया। 1904 से 1916 तक वे उर्दू में ही कहानियाँ लिखते रहे। 1905 में बंग–भंग के साथ भारतीय राजनीति में एक नए तरह की राष्ट्रीय–चेतना का जन्म हुआ। इस चेतना ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को लड़ाकूपन और स्वाधीनता की भावना दी। इस नए राष्ट्रवाद के नए नेता थे–तिलक, पाल, लाला लाजपत राय, बारीन्द्र घोष आदि। इन सबमें तिलक की 'स्वराज्य' भावना सबसे जुझारू और ठोस थी। महात्मा गांधी के भारतीय–राजनीति में आगमन से पहले तिलक की गिरफ्तारी और तत्पश्चात् विरोध में टेक्सटाइल मजदूरों की हड़ताल। भारतीय मजदूर वर्ग की यह पहली राजनीतिक हड़ताल थी। लेनिन ने इस हड़ताल की प्रशंसा की थी। 1905 में बंग–भंग, 1907 में कांग्रेस में फूट, 1908 में तिलक को जेल, तेजी से बदल रहे इस राजनीतिक–यथार्थ पर ऐसा नहीं है कि प्रेमचंद की नजर नहीं है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रेमचंद एक कथाकार के साथ–साथ कुशल पत्रकार भी थे। तिलक भी उन्हें प्रभावित करते हैं, गांधी भी प्रभावित करते हैं और टैगोर भी। उनके लेखन का आरंभ रवीन्द्रनाथ की कहानियों के प्रभाव और अनुवाद से ही होता है जिसमें राष्ट्रीय भावना मूल है। प्रेमचंद 'जमाना' पत्र में एक नियमित कॉलम सन् 1905 से लिखते रहे–'रतारे जमाना'। स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्र की चेतना का कोई ऐसा पहलू नहीं, जिस पर उन्होंने न लिखा हो। प्रेमचंद कभी जेल नहीं गए। सक्रिय राजनीति में उन्होंने कभी हिस्सेदारी नहीं की। परन्तु नवजागरण की दृष्टि से स्वतंत्रता आन्दोलन में उनका योगदान किसी राजनेता से कम नहीं है। उनकी कई कहानियों और अधिकांश उपन्यासों में राजनीतिक आंदोलनों की छाया देखी जा सकती है। स्वदेशी, बाल–विवाह, विधवा–विवाह, अस्पृश्यता, शिक्षा आदि राजनीतिक व समााजिक–सुधर के एजेण्डे का रूपायन प्रेमचंद की कई कहानियों में मिलता है। प्रेमचंद का कथा–साहित्य भारतीय ऐतिहासिक सामाजिक स्थितियों के तकाजे का आईना है। प्रेमचंद ने साहित्य के लिए 'नए मेयार' की बात की है। हिन्दी कहानी को उन्होंने नया मेयार दिया। यह नया मेयार किसानों, मजदूरों, अछूतों के जीवन–संग्राम से निर्मित हुआ है। जिन साधारण–जनों को सौंदर्य–जगत और कला की दुनिया से बहिष्कृत रखा जाता था, प्रेमचंद ने मनुष्यता के धरातल पर, न्याय के धरातल पर, समानता के धरातल पर उन्हें महत्त्व देकर कला और सौन्दर्य की दृष्टि ही बदल दी। प्रेमचंद लिखते हैं –"हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें। तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जाएंगे, किन्तु उस विधान की भी सृष्टि करेंगे जो सौंदर्य, सुरुचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।"

17.3.1 हिन्दी कहानी में प्रेमचंद का आगमन

प्रेमचंद सन् 1901 ई. से अपना लेखन–कार्य शुरू कर 8 अक्टूबर, 1936 में मृत्यु तक अबाध गति से लिखते रहे। उनके लेखन की शुरुआत उपन्यासों से हुई। कहानी लेखन बाद में शुरू हुआ। उन्होंने 'हंस' के 'आत्मकथांक' में 'जीवनसार' शीर्षक से लिखे अपने संक्षिप्त आत्मकथा में यह स्वीकार किया है कि, "मैंने पहले–पहल 1907 में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डॉक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू–पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने 1901 ही से लिखना शुरू कर दिया

था। मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में, लेकिन गल्प 1907 से पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था 'संसार का सबसे अनमोल रतन'। वह 1907 में 'जमाना' में छपी।" उक्त उर्दू कहानी के साथ चार और उर्दू कहानियों को मिलाकर 1908 ई. में नवाब राय के नाम से 'सोज–ए–वतन' का प्रकाशन होता है। पाँच कहानियों के इस संग्रह के छः महीने बाद ही ये कहानियाँ ब्रितानी सरकार के कोपभाजन का शिकार हुईं और जब्त कर ली गयीं। प्रेमचंद ने लिखा है–"उस समय मैं शिक्षा विभाग में सब इंसपेक्टर ऑफ स्कूल्स था और हमीरपुर जिले में तैनात था। किताब को निकले छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि, मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि, मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातोरात तीस–चालीस मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोज–ए–वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं नवाब राय के नाम से लिखा करता था। साहब ने पूछा–'यह पुस्तक तुमने लिखी है?' मैंने स्वीकार किया। साहब ने मुझसे एक–एक कहानी का आशय पूछा और अंत में बिगड़कर बोले–'तुम्हारी कहानियों में सिडिसन भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानों की अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट दिए जाते।" भला हो सभ्य ब्रितानी सरकार का, जिसने राजद्रोह के आरोप के बावजूद नवाब राय का हाथ बख्श दिया वरना हिन्दी को प्रेमचंद कहाँ मिलता। प्रेमचंद ने इस हिदायत के बाद कुछ समय तक लिखना बंद कर दिया। धनपत राय और नवाब राय दोनों ही नाम सरकार की नजर में थे। बाद में उनके मित्र और 'जमाना' के संपादक दयानारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम दिया। नवाब राय अब प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे। 1916 तक वे उर्दू में ही कहानियाँ लिखते रहे। 1916 में हिन्दी में लिखी उनकी पहली कहानी 'पंच परमेश्वर' प्रकाशित हुई। न्याय के नैसर्गिक महत्त्व को स्थापित करती यह कहानी मनुष्य को जीवन की तमाम संगतियों–विसंगतियों से उठाती हुई एक ऐसे 'सत्य' के पक्ष में खड़ा करती है जिसमें ईश्वरीय न्याय के समांतर मानवीय–न्याय, महत्ता प्राप्त करता है। हृदय–परिवर्तन इस कहानी का लक्ष्य है। अपनी प्रभावपूर्ण वर्णन शैली और चरित्र चित्रण की दृष्टि से 'पंचपरमेश्वर' एक बेजोड़ कहानी है। इस कहानी के कुछ ही दिनों बाद उनकी दूसरी कहानी 'आत्माराम' का प्रकाशन हुआ। इन प्रारंभिक कहानियों को मिलाकर हिन्दी में उनका पहला कहानी संग्रह 'सप्त सरोज' के रूप में प्रेमचंद के नाम से प्रकाशित हुआ। इस तरह हिन्दी कहानी में प्रेमचंद का आगमन हुआ।

17.3.2 प्रेमचंद की प्रारंभिक दौर की कहानियाँ

प्रेमचंद ने छोटी–बड़ी सब मिलाकर लगभग 300 कहानियाँ लिखी हैं जो 'मानसरोवर' नाम से आठ खंडों में तथा 'कफन' और 'गुप्तधन' में संकलित हैं। इन कहानियों को देखने के बाद यह समझ बनती है कि ये कहानियाँ अपने विकास क्रम में दो सोपानों से गुजरती हैं। मोटे तौर पर उनकी प्रारंभिक दौर की कहानियों को 1907 से 1920 ई. के बीच रख सकते हैं और दूसरे दौर की कहानियों को 1920 से 1936 के बीच। जहाँ प्रारंभिक दौर की कहानियों में राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित भावात्मक अभिव्यक्ति हुई है वहीं दूसरे दौर में प्रेमचंद सामाजिक व आर्थिक चेतना से परिष्कृत होते गए हैं।

प्रेमचंद की प्रारंभिक दौर की कहानियाँ आर्यसमाजी और राष्ट्रीय सुधार व मर्यादाओं के साथ हृदय–परिवर्तन की कहानियाँ हैं। राजेंद्र यादव ने लिखा है –'भूल सुधार और हृदय–परिवर्तन उनकी अधिकांश कहानियों की रीढ़ है। थीम या विषय हैं– राष्ट्रीय भावना, समाज सुधार, पारिवारिक आदर्श और एक मानवतावादी दृष्टि से चरित्र की ऊँचाई

और महानता वाले परंपरागत आदर्श की स्थापना।" उनके प्रारंभिक दोनों संग्रहों–'सोज–ए–वतन' (उर्दू) और 'सप्त सरोज' की कहानियाँ इसकी गवाह हैं। प्रेमचंद द्वारा लिखी गई जो सबसे पहली कहानी है–'दुनिया का सबसे अनमोल रतन'–उसमें अरबी–फारसी प्रेमकथाओं के ताने–बाने में देश–प्रेम का जो उदात्त चित्र प्रस्तुत किया है, वह अनमोल है। इस कहानी में प्रेमचंद ने संघर्ष ओर जीवटता, त्याग और बलिदान के दो समानान्तर कथा–सूत्रों को एक साथ नियोजित किया है। दिलफिगार अपनी माशूका दिलफरेब के लिए अपना सब कुछ त्यागकर निरंतर संघर्ष करते हुए 'प्रेम' का उच्च आदर्श प्रस्तुत करता है तो राजपूत सिपाही अपने 'देश' की स्वतंत्रता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर 'देशभक्ति' का हक अदा करता है। 'प्रेम– और 'देश' की यह कथा–युति अंत में मिलकर 'देशप्रेम' का जो प्रभाव छोड़ती है वह अत्यंत ही प्रेरणाप्रद है। 'सोज–ए–वतन' की अन्य कहानियों–'शेख–मखमूर', 'यही मेरा वतन है', 'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम' आदि में भी 'देशभक्ति' और 'देश की मिट्टी' के साथ जो भावात्मक अनुराग प्रस्तुत किया है, वह तत्कालीन स्वतंत्रता–संघर्ष के लिए पुनर्जागरण की प्रेरणा से निःसृत है।

राष्ट्रीय आंदोलनों से प्रेरित भावात्मक स्तर की इस देशभक्ति के साथ प्रेमचंद की इस दौर की कहानियों का विकास मनुष्य की सद्–असद् प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में हृदय–परिवर्तन के उद्देश्य के साथ सामने आता है। 'पंचपरमेश्वर', 'नमक का दारोगा', 'दामुल का कैदी' आदि कहानियों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। 'पंचपरमेश्वर' में जुम्मन शेख और अलगू चौधरी की मित्रता और विरोध दोनों को न्याय–धर्म पर जिस तरह प्रेमचंद ने कसा है, वह मनुष्य को सत्य और धैर्य के पक्ष में मानवीय राग और द्वेष से ऊपर परमेश्वर की कोटि तक ले जाता है। अलगू चौधरी से जुम्मन शेख की मित्रता के संबंधों के चलते जो अपेक्षा होती है उसके ठीक विपरीत अलगू चौधरी का न्याय होता है। ऐसे ही एक प्रसंग में जब जुम्मन शेख पंच बनता है तो लोगों को लगता है कि अब तो जुम्मन शेख अलगू चौधरी से अपना पिछला हिसाब लेकर रहेंगे परन्तु जुम्मन शेख पंच परमेश्वर के आसन पर बैठकर सोचते हैं कि, "मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा वह देववाणी के सदृश है–और देववाणी में मेरे मनोविकारों का समावेश कदापि न होना चाहिए। मुझे सत्य से जौ भर भी टलना उचित नहीं।" ईमानदारी, न्यायभावना, धर्मनिष्ठता, कर्त्तव्यनिष्ठता जैसे आदर्शवादी मूल्यों की निर्मिति 'नमक का दरोगा' में भी है। उर्दू में यह कहानी 1914 में 'प्रेम पचीसी' में प्रकाशित हुई थी। इस तरह से यह 'पंच परमेश्वर' से पहले की कहानी है। इस कहानी में प्रेमचंद लोभ के बरक्स ईमानदारी को, अन्याय के बरक्स न्याय को और अमानवीयता के विरुद्ध सच्ची मानवीय भावना को सर्वोपरि रखते हैं। वंशीधर अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के द्वारा पं. अलोपीदीन की छल–छद्म भरी प्रतिष्ठित छवि को धूल चटा देते हैं। पं. अलोपीदीन का हृदय–परिवर्तन होता है और वे वंशीधर की ईमानदारी के कायल होते हैं। आदर्शवाद, प्रेमचंद की अन्य दूसरी कहानियों में भी है। 'ईदगाह', 'बूढ़ी काकी' भी आदर्शवादी कहानियाँ हैं परन्तु इनमें एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी साथ–साथ जुड़ा हुआ है। कहानी के बारे में प्रेमचंद की एक मनोभावना यह है कि, "साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही बिना किसी घुमाव–फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है।" 'ईदगाह', 'बड़े घर की बेटी,' 'अलगौझा', 'बड़े भाई साहब', 'दो बैलों की कथा', 'बूढ़ी काकी' आदि कहानियाँ आत्मा के इसी क्षणिक भाव को प्रकट करने वाली कहानियाँ हैं। इस दौर में सत्य, ईमानदारी, परोपकार, सद्भाव जैसे मानवीय नैतिक मूल्यों पर प्रेमचंद का अटूट विश्वास था।

17.3.3 प्रेमचंद की कहानियों का विकास : आदर्श और यथार्थ का द्वंद्व

प्रेमचंद की कहानियाँ धीरे–धीरे किस्सागोई के शिल्प से द्वन्द्वात्मक शिल्प में परिवर्तित होते दिखाई देती हैं। हृदय–परिवर्तन, नैतिकताजनित सार्वभौम मूल्य की स्थापना, सत्याग्रह की टेक अभी कहीं न कहीं उनकी कहानियों में मौजूद है परंतु वह उदार भावुकता से संचालित नहीं हैं। किसी रचनाकार के लिए अपनी बनायी लीक और जाने–अनजाने बन गयी रचना रूढ़ि को तोड़ना एक मुश्किल काम होता है। प्रेमचंद ने यह काम लगातार अपने से जूझते हुए, अपना आत्मालोचन करते हुए किया। अपने को जाँचते हुए, अपने अंतर्विरोधों को समझते हुए यदि कोई रचनाकार तत्कालीन ऐतिहासिक सच्चाईयों के बदलाव के साथ अपने–आप को भी बदलता है तभी वह कालजयी और महान रचनाकार होता है। प्रेमचंद की दूसरी दौर की कहानियों में भावुक आदर्शवाद के साथ ही एक सचेत बदलाव भी लक्षित किया जा सकता है– विषय–चयन और उद्देश्य दोनों ही स्तरों पर। गांधीवादी सिद्धांतों एवं आदर्शों को सिद्ध करने के लिए हृदय–परिवर्तन और आदर्शवादी निष्कर्ष देने की प्रवृत्ति इस दौर में भी मौजूद है। परन्तु, इस दौर में प्रारंभिक दौर की रोमानी भावुकता नहीं है। इस दौर में आदर्श को वे वास्तविक स्थितियों–परिस्थितियों के संदर्भ और तनाव में रखकर चित्रित करते हैं। इससे धीरे–धीरे उनकी कहानियों में एक ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति का निर्माण होने लगा जिसकी परिणति ठोस यथार्थवादी विधान में होती है।

दूसरे दौर की शुरुआती कहानियों में, 'समर–यात्रा', 'दु:साहस', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आहुति', 'जुलूस', 'सत्याग्रह', 'सवा सेर गेहूँ' आदि को रखा जा सकता है। राजनीतिक पटल पर यह दौर स्वदेशी, असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन के साथ–साथ हरिजन–उद्धार जैसे सामाजिक सुधार आंदोलनों का भी दौर था। 'सत्याग्रह' यहाँ मूल नैतिक शक्ति के रूप में 'केन्द्र' में था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के एक नाजुक किन्तु महत्त्वपूर्ण पहलू हिन्दू–मुस्लिम एकता को बनाए रखने का भी यह दौर था। 'जुलूस' का मुसलमान पात्र इब्राहीम अली पूर्ण स्वराज्य के समर्थन में निकाले गए जुलूस का नेतृत्व करता है और घोड़ों के नीचे कुचल दिया जाता है।। साँस छोड़ने के पूर्व वह अपनी अंतिम इच्छा के रूप में यह निर्देश दे जाता है कि, 'उसका शव गंगा जल से नहलाकर कब्र में दफनाया जाय।' 'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचंद के ऐतिहासिक बोध के विकास–क्रम की कहानी है। इस कहानी को प्रेमचंद ने पतनशील सामंतवादी युग के संदर्भ में स्वाधीनता की चेतना को मिर्जा और मीर के शतरंज के खेल के बहाने से अभिव्यक्त किया है। भावुक आदर्शवाद की जगह एक तार्किक आदर्शवाद अब प्रेमचंद के रचना विधान में जगह पाने लगा था। सत्य और अहिंसा के मूल्य पर लड़े जा रहे स्वाधीनता संघर्ष की समीक्षा भी उनकी कहानियों में दिखाई पड़ती है जो समसामयिक राजनीति के पटल पर महात्मा गाँधी के प्रयोग ओर असफलताओं से उपजे परिदृश्य की समीक्षा है। 'समर यात्रा' कहानी में एक जगह सत्याग्रहियों का नायक कहता है–"अपना काम करना और अपनी दशा पर संतोष रखना यह आदर्श है, लेकिन आपका यही देवत्व, आपका यही सीधापन आपके हक में घातक हो रहा है।" प्रेमचंद ने जून 1921 ई. में 'स्वराज्य के फायदे' नाम से जो बीस एक पन्नों का पैम्पलेट लिखा था अब उसका स्वरूप और लक्ष्य दोनों ही बदल गए। अप्रैल 1930 के हंस में उन्होंने 'स्वराज्य से किसका अहित होगा' शीर्षक लेख में इस परिवर्तित स्वरूप और लक्ष्य को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–''इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज्य का आंदोलन गरीबों का आंदोलन है। अंग्रेजी राज्य में गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है और होती जा रही है उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं। उनपर लगान बढ़ता जा रहा है, सख्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। कौंसिलों में उनके हितों का कोई

रक्षक नहीं। वे जमींदारों के चंगुल में ऐसे बुरी तरह फँसे हैं कि दबाव में पड़कर वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बनाने पर मजबूर होते हैं जो उनके हितों का भक्षण करते हैं।" प्रेमचंद का यह यथार्थ निरीक्षण उनकी कहानियों 'सवा सेर गेहूँ', 'ठाकुर का कुँआ', 'सद्गति', 'पूस की रात', 'कफन', इत्यादि में अभिव्यंजित होता है। 'सवा सेर गेहूँ' कहानी खत्म करते हुए वे कहते हैं कि, "इस वृत्तांत को कपोल कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से यह दुनिया खाली नहीं है।" 'पूस की रात' और 'कफन' में तो वे निराश होकर किसान को मजदूर और मजदूर को सारे मानवीय रिश्तों और संबंधों से ऊपर 'पेट का जला' बना देते हैं। 'कफन' कहानी में घीसू और माधव एक तरह से मलंग हो गए हैं। पेट की आग का जैसा अमानवीय चेहरा इस कहानी में उभरता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मध्यकाल में कबीर और तुलसी ने भी पेट की आग को पहचाना था पर प्रेमचंद के यहाँ आकर यह 'भूख' इतनी स्वार्थी, विकराल और विकृत हो जाती है कि इसमें पति–पत्नी का रिश्ता, बाप–बेटे का रिश्ता सब कुछ स्वाहा हो जाता है।

17.4 प्रेमचंद कालीन हिन्दी कहानी

यह सत्य है कि हिन्दी कहानी में जिसे प्रेमचंद युग कहा जाता है उसकी सारी विशेषताएँ अगर किसी एक कहानीकार में मिलती हैं तो वे प्रेमचंद हैं परंतु इसका अर्थ यह भी नहीं लगाना चाहिए कि हिन्दी कहानी प्रेमचंद से शुरू हुई और प्रेमचंद पर ही खत्म हुई। प्रेमचंद के समय में जो ग्रामीण–यथार्थ प्रेमचंद की कहानियों का विषय था उससे इतर संवेदना की कहानियाँ भी कहानीकारों ने लिखी हैं। बाद में, जिसे प्रेमचंदोत्तर काल कहा गया उसके दो प्रमुख कहानीकार अज्ञेय और जैनेन्द्र की बहुत सारी कहानियाँ चौथे दशक में ही लिखी गयीं। इन कहानीकारों ने सामाजिक संघर्ष, निम्न–वर्ग के यथार्थ के बजाय कहानी को मानव–मन की गुत्थियों को खोलने वाली कला के रूप में कहीं ज्यादा समझा और अपनी कहानियों की कथावस्तु का आधार मनोविश्लेषण को बनाया। प्रेमचंद के यहाँ भी कई सारी कहानियाँ मानव–मन और चरित्र के द्वंद्व को लेकर लिखी गयी हैं। वे स्वयं लिखते हैं कि, "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।" परंतु, यह लिखने के बावजूद प्रेमचंद की अधिकांश कहानियाँ जीवन–यथार्थ के चित्रण की कहानियाँ हैं न कि मनोविश्लेषणवाली धारा की कहानियाँ। मनोवैज्ञानिक सत्य की तलाश या उसकी सिद्धि प्रेमचंद की कहानियों का उद्देश्य नहीं है। वरन् मनुष्य का एक चित्र दिखाकर सामाजिक सोद्देश्यता की सिद्धि उनका लक्ष्य है। जैनेन्द्र ने तो अपने एक वक्तव्य में साफ कहा है कि, "मैं नहीं जानता समाज क्या होता है, मैं तो मनुष्य को जानता हूँ।"

प्रेमचंद के समय में ही आदर्श ऐतिहासिक स्थिति की कहानियाँ भी लिखी गयीं। प्रेमचंद की कुछ कहानियों में इसके सूत्र हैं परंतु जयशंकर प्रसाद इस कथा–धारा के प्रमुख कहानीकार हैं। भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति उनकी अनुरक्ति कहानियों के वातावरण, काल, घटना–स्थल, पात्र और उनके कथोपकथन–सभी के चुनाव में प्रसाद की दृष्टि अभिजात्य आदर्श की ऐतिहासिक संरचना का निर्माण करती है।

17.4.1 प्रेमचंद कालीन हिन्दी के प्रमुख कहानीकार

प्रेमचंद कालीन जिन कहानीकारों ने हिन्दी कहानी को वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर वैविध्य प्रदान किया उनमें–जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', उग्र, शिवपूजन सहाय, सुदर्शन, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', आचार्य चतुरसेन, जी.पी. श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, रायकृष्णदास, सियाराम शरण गुप्त, चण्डी प्रसाद 'हृदयेश', भगवती प्रसाद वाजपेयी, ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गोपालराम गहमरी, गोविन्द वल्लभ पंत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

17.4.2 जयशंकर प्रसाद और हिन्दी कहानी

मोटे तौर पर हम देखें तो प्रेमचंद युगीन हिन्दी कहानी दो स्कूलों में बँटी हुई दिखती है–प्रेमचंद स्कूल और प्रसाद स्कूल। सुधा, माधुरी, हंस आदि पत्रिकाओं में दोनों स्कूलों की कहानियाँ प्रकाशित हो रही थीं। सामन्ती समाज, ग्राम्य यथार्थ, शोषण, अन्याय, सामाजिक असमानता, रूढ़िवादिता; अंधविश्वास आदि प्रेमचंद की कहानियों की चिंता के केन्द्र थे तो द्वन्द्वात्मकता, गौरवशाली अतीत, दृश्यांकन, आंतरिक मुद्राएँ (जेस्चर), लय–संगति (हारमोनी) इत्यादि की रचना प्रसाद और उनके अनुकरण पर लिखी गई कहानियों में देखी जा सकती है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद यदि प्रसाद स्कूल की कहानियों की प्रकृति है तो सामाजिक यथार्थ प्रेमचंद और उनकी परंपरा की कहानियों का सच। प्रसाद की कहानियाँ वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर छायावादी काव्य–बोध से जुड़ी हुई हैं इसीलिए उनमें एक 'गीति–संवेदना' पायी जाती है। 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'ममता', आँधी' आदि इसी गीति–संवेदना की कहानियाँ हैं। निर्वेद अथवा आत्मकरुणा प्रसाद की कहानियों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करता है। व्यक्तिगत भावना और स्थापित नैतिकताजन्य कर्त्तव्य–भावना का द्वन्द्व उस मनोवैज्ञानिक यथार्थ को सामने लाता है जिसका जिक्र ऊपर हुआ है। राजेन्द्र यादव ने लिखा है–"इस द्वन्द्व में छटपटाती और अन्त में आत्मबलिदान की उन्मुखता से कर्त्तव्यपलायन करती उनकी नायिकाएँ प्रायः उस मानसिकता की शिकार हैं जिसे मनोविज्ञान में 'ऐम्बिवैलेन्सी' कहते हैं–अर्थात् एक ही व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्यार और घृणा की समान तीव्र–भावना।" 'आकाशदीप' कहानी में चम्पा का वह कथन याद कीजिए, जब वह बुधगुप्त से कहती है, "मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु। तुम्हें प्यार करती हूँ।" प्रसाद की एक अन्य कहानी 'मधुआ' में इस द्वन्द्व की परिणति हृदय–परिवर्तन के सौम्य धरातल पर होती है पर यह हृदय–परिवर्तन प्रेमचंद की आदर्शवादी अथवा समाज सुधारवादी आग्रह से संचालित हृदय–परिवर्तन नही है। शायद इसका कारण यह भी हो सकता है कि प्रेमचंद की समाधानवादी कहानियों की तुलना में घटनाओं और चरित्रों की स्थिति और द्वन्द्व की कल्पना प्रसाद के यहाँ अधिक सघन है। यह द्वन्द्वात्मक निर्मिति उनके 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप' और 'आँधी' – चारों संग्रहों की विशेषता है। 'विषाद–भाव' प्रायः उनकी सभी कहानियों का केन्द्रीय भाव है। 'मधुआ', 'नीरा', 'घीसू', 'विराम चिह्न', 'छोटा–जादूगर' आदि कहानियों में जो बाह्य–यथार्थ दिखता है अपनी आंतरिक – अन्विति में वह भी कम वेदनापरक नहीं हैं। मनोभावात्मक वासनाओं के सूक्ष्म विश्लेषण की जो फ्रायडीय धारा आगे चलकर हिन्दी कहानी में अज्ञेय, जैनेन्द्र और इलाचंद्र जोशी के यहाँ विकसित हुई उसके प्रारंभिक लक्षण प्रसाद की दो कहानियों 'सुनहरा साँप' और 'प्रतिध्वनि' में देखे जा सकते हैं। इन कहानियों में आन्तरिकता और अन्तर्मुखता का जो व्यक्तिगत द्वन्द्व है वह हिन्दी कहानी में प्रसाद के पहले नहीं पाया जाता। हिन्दी कहानी में भावों के संश्लिष्ट अंकन और वास्तविकता के

दोहरे रूपों और जटिलताओं को पकड़ते हुए उसे चित्रात्मक नाटकीयता के स्तर पर उतार देने में प्रसाद बेजोड़ हैं। इसके पूर्व हिन्दी कहानी में यह प्रवृत्ति नहीं दिखती। आगे के कहानीकारों के लिए प्रसाद का यह योगदान महत्त्वपूर्ण है।

17.4.3 प्रेमचंद–कालीन हिन्दी कहानियों की अन्य प्रवृत्तियाँ

हृदय–परिवर्तन के तन्त्र को आदर्शवादी नीति और सुधारवादी आंदोलन के साथ आग्रहपूर्वक मिलाए रखने का श्रेय यद्यपि प्रेमचंद को दिया जाता है परंतु इसकी शुरुआत सुदर्शन, विश्वंभर नाथ शर्मा, 'कौशिक', वृन्दावन लाल वर्मा, ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री इत्यादि के समय में ही हो गया था। सुदर्शन की प्रसिद्ध कहानी 'हार की जीत' सत्य–असत्य के संघर्ष और डाकू के हृदय–परिवर्तन के साथ असत्य पर सत्य की जीत की कहानी है तो कौशिक जी की 'ताई' ईर्ष्या और विद्वेष में जलती एक ऐसी निःसंतान स्त्री की कहानी है जिसका हृदय–परिवर्तन मातृत्व–प्रस्फुटन में होता है। ज्वालादत्त शर्मा प्रेमचंद स्कूल के ही कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों पर प्रबल काशाघात मिलता है। ऐतिहासिक परिवेश और इतिहास के कथानकों का प्रयोग करते हुए वृन्दावन लाल वर्मा ने कहानी को एक नई धारा प्रदान किया। बुन्देलखंड का जीवन और वातावरण उनकी कहानियों में उभरकर आता है। 'राखी', 'कलाकार का जीवन', 'युद्ध के मोर्चे' आदि उनकी लोकप्रिय कहानियाँ हैं। प्रेमचंद के ही दौर में रायकृष्ण दास भावुक छायालोक के सहारे जीवन के छोटे–छोटे अनुभवों को अपनी कहानियों में रच रहे थे। आचार्य चतुरसेन शास्त्री तीव्र नाटकीय आवेगों वाली अपनी कहानियों में किसिम–किसिम के अनुभव और वैविध्य को लिख रहे थे। इनकी कहानियों की भाषा और वातावरण दोनों ही में कल्पना का विस्तार अत्यधिक मिलता है। जी.पी. श्रीवास्तव की कहानियों में 'हास्यरस' की निर्मिति एक प्रमुख उद्देश्य है। इस दृष्टि से 'लम्बी दाढ़ी' उनका अच्छा संग्रह है। राजा राधिकारमण प्रसाद कहानी में सामाजिक सोद्देश्यता को लेकर बराबर सक्रिय रहे। 'कानों में कँगना' उनकी महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस समय जासूसी कहानियाँ लिखने वालों में गोपाल राम गहमरी अग्रगण्य हैं। 'त्रिवेणी', 'तीन तहकीकात' और 'गल्प–पंचक' इनके कहानी संग्रह हैं। प्रेमचंद कालीन कहानीकारों में जिन दो महत्त्वपूर्ण रचनाकारों का नाम उल्लेखनीय है उनमें निराला और उग्र भिन्न प्रवृत्ति के कहानीकार हैं। प्रसाद की तरह निराला ने भी कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं पर निराला की कथा–भाषा प्रसाद से भिन्न है। रोमान और कल्पनाशील आदर्शवाद निराला की कहानियों की विशेषताएँ नहीं हैं। वे एक यथार्थवादी कहानीकार हैं। हालाँकि, उनका यथार्थ–चित्रण कई जगहों पर अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। यह अन्तर्विरोध, रामविलास शर्मा के शब्दों में कहें तो, "एक ओर काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपने रचने की है तो दूसरी ओर वास्तविक जीवन संघर्ष को चित्रित करने की।" निराला जहाँ इन अन्तर्विरोधों में नहीं फँसते वहाँ उनकी यथार्थवादी कला प्रभावित किए बिना नहीं रहती। 'देवी' और 'चतुरी चमार' कहानियाँ इसका उदाहरण हैं। जाति प्रथा, ऊँच–नीच, सामाजिक असमानता, स्त्रियों की दशा, विधवाओं की दुरावस्था इत्यादि विषयों पर निराला ने कहानियाँ लिखी हैं। 'देवी' और 'चतुरी चमार' तो कहानी संस्मरण और रेखाचित्र का मिला–जुला रूप है–'यथार्थवादी साहित्य के निर्माण में–कथा–रचना के विकास में एक नया चरण'। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने कहानी–लेखन की शुरुआत '30 के दशक में ही कर दी थी। उग्र की कहानियों में भी 'समाज' केन्द्र में था परंतु उस समाज को व्यक्त करने का जो प्रकृतिवादी ढंग है वह उग्र को अलग करता है। अपनी इसी प्रकृतिवादी वर्णन–पद्धति के चलते उग्र ने बहुत आलोचनाएँ भी झेली हैं पर इससे उनका रचनाकार कमतर नहीं ठहरता। सुरुचिभंजक भंगिमाएँ और व्यंग्य की तीखी मार उनकी कहानियों

का विशेष लक्षण है। 'चिनगारियां' (1923), 'शैतानमंडली' (1924), 'इन्द्रधनुष' (1927), 'बलात्कार' (1927), 'चाकलेट' (1928), 'दोजख की आग' (1929) आदि उनके कहानी संग्रह हैं।

17.5 सारांश

आपने एम.ए. हिंदी के द्वितीय वर्ष के कहानी से संबंधित माड्यूल के पाठ्यक्रम 'कहानी : स्वरूप और विकास' के अंतर्गत् पाँचवें खंड की इकाई सत्रह का अध्ययन किया। इस इकाई में 'प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंद–कालीन हिन्दी कहानी' के तहत हिन्दी साहित्य में कहानी की शुरुआत, प्रारंभिक कहानियाँ, प्रेमचंद की कहानियों के साथ–साथ प्रेमचंद के समकालीन लिखी जा रही प्रसाद, सुदर्शन, कौशिक, निराला, इत्यादि की कहानियों की प्रकृति और प्रवृत्ति पर विचार किया गया है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी कहानी के उदय की पृष्ठभूमि में आख्यान, किस्सा, वृत्तांत, जातक कथाओं, पुराणों, पंचतंत्र, हितोपदेश, अरबी–फारसी दास्तानों, की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आगे चलकर इन्हीं कथारूपों के साथ अंग्रेजी 'शॉर्ट स्टोरी' के प्रभाव के चलते आधुनिक हिन्दी कहानी का वास्तविक रूप सन् 1915 में 'उसने कहा था' के रूप में सामने आया। प्रेमचंद के हाथों कैसे हिन्दी कहानी, वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर उत्कर्ष पर पहुँचती है इस पर विचार किया गया। प्रेमचंद के कथा–साहित्य में आदर्श और यथार्थ का द्वन्द्व एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में सामने आता है। उनकी कहानियों में यह द्वन्द्व कैसे और किन पड़ावों से होकर विकसित होता है, उसका उल्लेख किया गया है। प्रेमचंद के युग में, उनके समानांतर प्रसाद हिन्दी कहानी को एक नई भावधारा और वास्तविकता के धरातल पर प्रस्तुत कर रहे थे। रोमानी भाववाद के साथ ऐतिहासिक आदर्शवाद और इन दोनों के साथ मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद प्रसाद और उनकी परंपरा के कहानीकारों में मिलता है, इस पर विचार इस इकाई के अंतर्गत् किया गया है। प्रेमचंद और प्रसाद से इतर अन्य प्रवृत्तियों का विकास भी हिन्दी कहानी में हो रहा था। इन भिन्न प्रवृत्तियों पर भी विचार हुआ है।

अभ्यास

1. प्रेमचंद पूर्व हिन्दी कहानी के विकास और स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2. प्रेमचंद की कहानियों में उत्तरोत्तर विकास दिखायी देता है। आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व के संबंधों में इसका मूल्यांकन कीजिए।
3. प्रेमचंद कालीन कहानीकारों में प्रसाद एक भिन्न धारा एवं प्रकृति के कहानीकार हैं।' इसका विवेचन करते हुए प्रेमचंद कालीन हिन्दी कहानियों की विभिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 18 प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 प्रेरक आंदोलन

18.2.1 प्रगतिवाद

18.2.2 मनोविश्लेषणवाद

18.3 प्रमुख कहानीकार

18.3.1 जैनेंद्र कुमार

18.3.2 अज्ञेय

18.3.3 यशपाल

18.4 सारांश

अभ्यास

18.0 उद्देश्य

यह खंड उन्नीसवीं सदी के आरंभ में सामने आई हिंदी कहानी की लिखित परंपरा के तीसरे चरण से संबंधित है। इस इकाई में हम आपको 1930 से लेकर 1950 के आसपास तक लिखी गई कहानियों का परिचय देते हुए इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और कहानीकारों की जानकारी देंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हिंदी कहानी की विकास–यात्रा में प्रेमचंद की मृत्यु (1936) तक कहानी में कथ्य, भाषा तथा शिल्प के स्तर पर जो बदलाव आए, ऐसी नई तरह की कहानियों के बारे में पढ़ेंगे/पढ़ेगीं।

- पश्चिमी साहित्य के वैचारिक एवं सामाजिक आंदोलनों, विशेष रूप से 'मनोविश्लेणवाद' और 'साम्यवाद' के प्रभाव से हिंदी कहानी में आए बदलावों की जानकारी प्राप्त करेंगे/करेंगी।

- आप देखेंगे/देखेंगी कि इसी दौर में प्रेमचंद से आरंभ हुई यथार्थवादी और जयशंकर प्रसाद से शुरू हुई भाववादी कहानियों की परंपरा का किस प्रकार पहली बार कलात्मक विस्तार हुआ और हिंदी कहानी दो स्वतंत्र समानांतर धाराओं में विकसित होती चली गईं।

- इस अध्याय में आप पढ़ेंगे/पढ़ेंगी कि भारतीय समाज में पहली बार अंग्रेज़ी पढ़ा–लिखा एक नया मध्यवर्ग उभरा जिसके प्रयासों से अनेक बौद्धिक आंदोलनों का जन्म हुआ।

18.1 प्रस्तावना

यह इकाई हिंदी साहित्य के खंड पाँच के अंतर्गत् कहानी विधा से जुड़ी 18वीं इकाई है।

हिंदी कहानी को जिन चार युगों में विभाजित किया जाता है, उनमें से दो के बारे में आप पढ़ चुके हैं। इस तीसरे युग का नाम 'प्रेमचंदोत्तर काल' रखे जाने के पीछे दो कारण हैं : पहला यह कि 1930 के आसपास कहानीकारों की एक ऐसी पीढ़ी प्रकाश में आने लगी थी जिनकी कहानियों में कथ्य, भाषा और शिल्प की दृष्टि से बहुत साफ बदलाव दिखाई देता है। दूसरे, 1936 में हिंदी के युग–प्रवर्तक कहानीकार प्रेमचंद की मृत्यु हुई, जिसे हिंदी कहानी के युग का पटाक्षेप माना जाता है। हिंदी कहानीकारों का यह तीसरा दौर 1930 के आसपास से लेकर 1950 के आसपास तक चला। 1947 में देश की आज़ादी के बाद नया भारतीय समाज उभरा जिसकी अभिव्यक्ति नई तरह की कहानियों में होने लगी।

पिछली शताब्दी का तीसरा दशक, यानी 1921 से लेकर 1930 तक का कालखंड, भारतीय इतिहास में स्वाधीनता आंदोलन के तेजी से उभार का काल माना जाता है। इसी दशक में महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के सारे नैतिकतावादी दबावों के बावजूद स्त्री–पुरुष के बीच के संबंधों को लेकर एक नई बहस उभरी जिसने आगे के दो दशकों में प्रेम के भावनात्मक रूप को यथार्थ की भूमि के साथ जोड़कर मनुष्य के रागात्मक संबंधों का एक अलग चित्र सामने रखा। प्रेम के पात्र के रूप में देश के स्थान पर धीरे–धीरे व्यक्ति उभरने लगा। उदाहरण के लिए, जयशंकर प्रसाद की कहानी 'गुंडा' (1929) में अपनी प्रेमिका और उसके पति की रक्षा में दिया गया नन्हकू सिंह का शौर्यपूर्ण बलिदान चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' (1915) के जमादार लहना सिंह की अपेक्षा देशप्रेम और व्यक्ति–प्रेम के बीच का एकदम नया आयाम उद्घाटित करता है। प्रेम और कर्तव्य के बीच चुनाव का द्वंद्व नए रूप में दिखाई देने लगा।

मगर इस बदले हुए परिदृश्य का वास्तविक आरंभ होता है– 1929 में प्रकाशित जैनेंद्र कुमार के पहले संग्रह 'फांसी' और 1937 में प्रकाशित अज्ञेय के प्रथम कहानी–संग्रह 'विपथगा' से। इस संदर्भ में दो अन्य कहानीकारों का उल्लेख आवश्यक है : इलाचंद्र जोशी और यशपाल का। यद्यपि इन दोनों कथाकारों के कहानी–संग्रह इस दशक के लगभग अंतिम वर्षों में सामने आए मगर इलाचंद्र जोशी अपने प्रथम उपन्यास 'घृणामयी' के माध्यम से 1929 में ही अपने दौर की उपेक्षित स्त्री के बारे में ध्यान आकर्षित कर चुके थे। यशपाल का प्रथम कहानी–संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' प्रकाशित तो 1939 में हुआ लेकिन उसमें संकलित कई कहानियाँ 1934 के आसपास प्रकाशित हो चुकी थीं। उल्लेखनीय यह भी है कि इन दोनों कथाकारों की कहानियों ने हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक कहानियों की आधारशिला रखी।

प्रेमचंद के निधन से कुछ महीने पूर्व अप्रैल, 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी जिसकी अध्यक्षता स्वयं प्रेमचंद ने की थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने उस दौर में लिखे जा रहे साहित्य को समझने के लिए बदले हुए मानदंडों का बात उठाई थी और साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली मशाल कहा। यह भी अनायास नहीं है कि उक्त चारों कहानीकारों (जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल और इलाचंद्र जोशी) को प्रेमचंद के समय में ही हिंदी कहानी के आलोचकों ने प्रेमचंद के उत्तराधिकारी के रूप में स्मरण करना आरंभ कर दिया था और आज भी यह बात कही जाती है।

यह भी अनायास नहीं है कि व्यक्ति और समाज के आपसी संबंधों को लेकर पूरे विश्व में इस दौर में अत्यंत महत्वपूर्ण वैचारिक बहसें आरंभ हो चुकी थीं। संभवतः यही दबाव रहा हो कि इस दौर के हिंदी कहानीकारों ने भी व्यक्ति और समाज को लेकर उभरे उन प्रश्नों को लेकर कहानियाँ लिखीं। इसके बावजूद, ऐसा नहीं है कि प्रेमचंदोत्तर युग के

सभी लेखकों ने एक ही तरह की कहानियाँ लिखी हैं। वास्तविकता यह है कि बाहर से एक ही तरह के कथ्य को समेटे हुए दिखाई देने के बावजूद एक ही लेखक की कहानियों में हर प्रकार भी विभिन्नता है। उदाहरण के लिए, जिसे व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक कहानी कहा गया, उसके प्रमुख लेखकों – जैनेंद्र कुमार और अज्ञेय ने वैसी अनेक कहानियाँ लिखीं जिनमें उनके समय–संदर्भों की छाप बहुत स्पष्ट है। जैनेंद्र की 'अपना–अपना भाग्य' और अज्ञेय की 'शरणार्थी' कहानियाँ इनकी परंपरागत छवि को तोड़ती हैं। इसी प्रकार यशपाल ने घोषित रूप से मार्क्सवादी होने पर भी व्यक्तिगत मनोभावों को केंद्र में रखकर कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। ('फूलो का कुरता', 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुंदर हूँ' आदि) इस युग के कहानीकारों के संदर्भ में एक अन्य तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि उनका लक्ष्य अपने समय और समाज में रहने वाली मानव–इकाई के बदलते संदर्भों को उद्घाटित करने के साथ ही एक शोषण रहित समतामूलक समाज की स्थापना था, इसलिए उन्होंने भारतीय समाज में स्त्री और सर्वहारा वर्ग की दयनीय अवस्था पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए मानव–मन की सूक्ष्म स्थितियों को बारीकी से चित्रित किया।

प्रेमचंदोत्तर कहानी की यदा–कदा एक दूसरे को छूती और दूर होती इन धाराओं का पाट काफी बड़ा है क्योंकि तेजी से बदलते सामाजिक मूल्यों के बीच जी रहा उस युग का प्रत्येक कहानीकार अपने समय के बदलाव को स्वर देना चाहता था। उस युग की एक अन्य उल्लेखनीय बात यह भी है कि दूसरी विधाओं में लिखने वाले लेखकों ने भी कहानी विधा में अपना हाथ आजमाया। उदाहरण के लिए मुख्य रूप से उपन्यासकार समझे जाने वाले भगवतीचरण वर्मा की 'दो बांके' और 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' और भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी' और 'मिठाई वाला' कहानियाँ न केवल उस दौर में चर्चित रहीं, आज तक उन्हें अपने समय की केंद्रीय संवेदना का सफल वाहक समझा जाता है।

इसी प्रकार छायावाद के सर्वाधिक प्रतिष्ठित कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने भी इस दौर की कहानी का विन्यास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'देवी' और 'चतुरी चमार' उनकी इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। कुछ समय के बाद राहुल सांकृत्यायन ने 'सतमी के बच्चे' की कहानियों के द्वारा निराला की इस कहानी–परंपरा का विकास किया। सांकृत्यायन को विशेष रुप से 1942 में प्रकाशित उनके संग्रह 'वोल्गा से गंगा' में संग्रहीत कहानियों से विशेष ख्याति प्राप्त हुई। इसी के आसपास, इसी पृष्ठभूमि पर लिखी गई भगवतशरण उपाध्याय की कहानियाँ 'सवेरा', 'संघर्ष' और 'गर्जन' नाम से प्रकाशित हुईं जिनमें मानव विकास को कहानियों के माध्यम से चित्रित करने की कलात्मक कोशिश की गई। रांगेय राघव की 'महायात्रा' में इसी परंपरा का सार्थक विकास है।

उक्त कहानीकारों के अतिरिक्त प्रेमचंदोत्तर युग की केंद्रीय संवेदना को प्रभावशाली ढंग से चित्रित करने वाले कहानीकारों में उपेंद्रनाथ अश्क ('कांगड़े का तेली', 'डाची', 'अंकुर', 'पलंग', 'बेवसी', 'ठहराव' आदि), सुभद्राकुमारी चौहान ('गौरी', 'उन्मादिनी', 'होली', 'मझली रानी', 'मछुए की बेटी', 'आहुति' आदि), विष्णु प्रभाकर ('हिमालय की बेटी', 'मारिया', 'धरती अब भी घूम रही है', 'ठेका', 'कितने जेबकतरे', 'तांगेवाला' आदि), अमृतलाल नागर ('लंगूर का बच्चा', 'मरघट के कुत्ते', 'तुलाराम षास्त्री', 'दो आस्थाएँ', 'मल्का टूरिया का बेटा', 'मोती की सात चलनियाँ', 'जुएँ' आदि), रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' ('रामू और भाभी', 'सपने की दुनिया', 'मूंग की दाल', 'बीज और पौधा', 'समानांतर रेखाएँ', 'कैदी और बुलबुल', 'देवताओं की छाया में', 'नींव का पत्थर' आदि) अमृतराय ('एक सांवली लड़की', 'गीली मिट्टी', 'एक गुमनाम आदमी', 'तिरंगा कफन',

'समय', 'चित्रफलक' आदि), चंद्रकिरण सोनरेक्सा ('कवयित्री', 'नासमझ', 'बर्थडे', 'आत्महंता', 'साइकिल', 'बड़े कमीन : छोटे कमीन' आदि) के अतिरिक्त शिवरानी देवी प्रेमचंद, होमवती देवी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि इस युग के प्रमुख एवं चर्चित कहानीकार हैं।

आरंभ में ही आपको बताया गया था कि प्रेमचंदोत्तर कहानी हिंदी का ऐसा पहला आंदोलन है, जिसमें पहली बार पश्चिमी विचारधाराओं का सीधा प्रभाव पड़ा। इस रूप में 'प्रेमचंदोत्तर कहानी युग' हिंदी कहानी को विश्व के बौद्धिक फलक के साथ जोड़ने वाला पहला साहित्यिक युग है। यहाँ पर हम आपका परिचय ऐसे ही कुछ प्रमुख बौद्धिक आंदोलनों से कराएंगे।

18.2 प्रेरक आंदोलन

18.2.1 प्रगतिवाद

आधुनिक हिंदी साहित्य पर जिन पश्चिमी विचार—दर्शनों का प्रभाव पड़ा है, प्रगतिवाद उनमें सबसे महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टि से जिस प्रकार आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्रेमचंद के कथा—साहित्य में विकसित हो रहा था (यद्यपि वह परंपरागत अर्थों में 'साहित्यिक आंदोलन' नहीं था), उसमें काफी अंश उस बौद्धिक जागरूकता का था, जो रूस की क्रांति के बाद से समस्त बौद्धिक जनों के मानसिक स्तरों को आंदोलित कर रहा था। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आंदोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तुसत्य को उत्तर—छायावाद काल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी।

प्रगतिवाद का उद्देश्य था साहित्य में उस सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करना, जो छायावाद के पतनोन्मुख काल की विकृतियों को नष्ट करके एक नए साहित्य और नए मानव की स्थापना करे और उस सामाजिक सत्य को, उसके विभिन्न स्तरों को साहित्य में प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करे। वर्ग—संघर्ष की साम्यवादी विचारधारा और उस संदर्भ में नए मानव, 'नए हीरो' की कल्पना इस साहित्य का उद्देश्य था। इसकी मूल प्रेरणा मार्क्सवाद से विकसित हुई थी। इसका उद्देश्य और लक्ष्य जनवादी शक्तियों को संगठित करके मार्क्सवाद और भौतिक यथार्थवाद के आधार पर निर्मित मूल्यों को प्रतिष्ठित करना था। उसकी आत्मा साम्यवाद में थी, दृष्टि रूस के साहित्यिक इतिहास की ओर थी, प्रेरणा राजनीतिक मंतव्यों द्वारा अनुशासित थी और कल्पना 'सर्वहारा' सत्ताशाही से अनुप्राणित थी। इसकी खोज उस नए मानव की थी, जो समस्त पतनशील प्रवृत्तियों के विरोध में उपर्युक्त स्थापनाओं को विकसित करके एक सर्वहारा शासन सत्ता को उभरने का मौका दे।

हिंदी कविता के क्षेत्र में जिस प्रकार दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर, अंचल, नरेंद्र शर्मा और रामविलास शर्मा मुख्य हैं, उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव, चंद्रकिरण सोनरेक्सा, अमृत राय, अमृतलाल नागर आदि का नाम इस आंदोलन के कहानीकारों में सहज ही लिया जा सकता है।

'प्रगतिवाद' ने, विशेष प्रकार की राजनीतिक विचारधारा से जुड़ा हुआ होने के बावजूद,

कलाकारों–साहित्यकारों के बीच एक सम्मानजनक जगह हासिल की। हिंदी कविता के क्षेत्र में इस आंदोलन की जगह 'प्रयोगवाद' ने ली, कथा–साहित्य में भी प्रेमचंदोत्तर युग के बाद अनेक कथा–आंदोलनों का जन्म हुआ ('नई कहानी', 'सचेतन कहानी', अकहानी' आदि) लेकर प्रयोगवाद को अपनाने की ललक हिंदी साहित्यकारों में आज भी उसी तीव्रता के साथ दिखाई देती है, जैसी उसके जन्म के समय थी।

18.2.2 मनोविश्लेषणवाद

'मनोविश्लेषण' अपने प्रमुख और प्रारंभिक रूप में मानसिक और स्नायविक रोगों की चिकित्सा की विशेष विधि है, जिसके आधार पर मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का संगठन हुआ। इसके जन्मदाता सिग्मंड फ्रॉयड थे और उन्होंने इसका उपयोग चिकित्सा शास्त्र में ही किया। कला और साहित्य पर भी उनके विचारों का काफी प्रभाव पड़ा है। फ्रॉयड के सिद्धांतों को यौनवाद भी कहा जाता है। उनके अनुसार कला और धर्म दोनों का उद्‌भव अचेतन मानस की संचित प्रेरणाओं और इच्छाओं में ही होता है – इस काम शक्ति के उन्नयन के फलस्वरूप कलाकार सर्जन करता है। उनके अनुसार मानसिक जीवन में यथार्थ और सुखेच्छा के बीच जो संघर्ष होता है, उसका समाधान कलाकार कला के द्वारा करता है। फ्रॉयड के कलाविषयक सिद्धांतों ने कला के आलोचकों को एक विश्वव्यापी दृष्टि प्रदान की है और उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों ने संसार भर के आधुनिक कथा–साहित्य को बहुत प्रेरणा दी है। फ्रॉयड के बाद इन सिद्धांतों को उसके शिष्यों, विशेष रूप से युंग और ऐडलर ने आगे बढ़ाया।

ऐडलर के मनोविज्ञान में लिविडो अथवा कामवृत्ति का उतना महत्व नहीं है, जितना अहम् का। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति अहंस्थापन (self assertion) की होती है। इस अहंस्थापन की इच्छा और जीवन के यथार्थ का विरोध ही मानसिक जीवन की मुख्य समस्या है। युंग ने भी मनोविश्लेषण के सिद्धांतों में कुछ सुधार करके अपना जो मत दिया है, उसने भी संसार भर के आधुनिक साहित्य को प्रभावित किया। उसने 'लिविडो' शब्द का अधिक विस्तृत अर्थ लिया जिसमें फ्रॉयड की कामवृत्ति और ऐडलर की आत्मस्थापन प्रवृत्ति दोनों ही शामिल हैं।

मनोविश्लेषण का सिद्धांत विचार जगत में न्यूटन–कोपरनिकस, आइंस्टीन और मार्क्स के सिद्धांतों की तरह क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। साहित्य और कलाओं पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। नैतिकता और उसके प्रतिमानों पर इस सिद्धांत ने नया प्रकाश डाला है और स्वच्छंद विचारकों की एक नई पीढ़ी को जन्म दिया है। अंग्रेज़ी साहित्य में डी. एच. लारेंस और जेम्स ज्वॉयस इस प्रवृति के प्रतिनिधि लेखक हैं और हिंदी कथा–साहित्य में इलाचंद्र जोशी ने अपने उपन्यासों और कहानियों में इसका प्रत्यक्ष तथा जैनेंद्र व अज्ञेय ने परोक्ष चित्रण किया है। इलाचंद्र जोशी के उपन्यास 'संन्यासी', 'प्रेत और छाया' तथा 'पर्दे की रानी' और कहानियाँ 'प्लेंचेट', 'खंडहर की आत्माएँ' उनकी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

एक आंदोलन के रूप में तो नहीं, एक दृष्टि के रूप में मनोविश्लेषण ने आधुनिक साहित्य से जुड़े हर विधा के रचनाकारों को आकर्षित किया है। कहानीकारों को तो विशेष रूप से। इसका कारण यह है कि कहानी मानव–मन के अंदर घुसकर ही अपना संसार रचती है। कहानी की संरचना उसके चरित्रों के द्वारा की जाती है, और चरित्रों का द्वंद्व उनके मन के ऊहापोह द्वारा। कथा–साहित्य एक प्रकार से समाज और व्यक्ति के बीच चलने वाला संवाद है इसलिए भी मनोविश्लेषण की कहानी की रचना–प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका है।

प्रेमचंदोत्तर कहानियों में उक्त दो प्रमुख आंदोलनों के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के साहित्य का भी प्रभाव पड़ा विशेष रूप से बांग्ला साहित्यकारों – रवींद्रनाथ टैगोर और शरतचन्द्र का। यह प्रभाव कथ्य के स्तर पर ही नहीं, शिल्प और भाषा के विन्यास के स्तर पर भी पड़ा। इसी दौर में पश्चिम के नग्न यथार्थवाद के प्रभाव से उत्पन्न हुए 'अंगारा ग्रुप' की कहानियों का सीधा प्रभाव भी प्रेमचंदोत्तर कहानीकारों में दिखाई दिया – विशेष रूप से पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों में। कालखंड की दृष्टि से हिंदी कहानी का यह युग भले ही बहुत छोटा हो, लेकिन कहानी के आधारभूत चरित्र तथा उससे की जाने वाली पाठकीय अपेक्षाओं को देखते हुए यह युग हिंदी कहानी को महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करता है। इसकी उपलब्धियों को देखते हुए इस पर अकादमिक जगत् में बहुत कम लिखा गया है, संभव है भविष्य में इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित होगा।

18.3 प्रमुख कहानीकार

18.3.1 जैनेंद्र कुमार

जैनेंद्र कुमार (2–01–1905 – 24–12–1988) की आरंभिक कहानियों का संग्रह 'फांसी' 1929 में प्रकाशित हुआ। जैनेंद्र की इन आरंभिक कहानियों – 'फांसी', 'ग़दर के बाद', 'जयसंधि' और 'रानी महामाया' आदि के माध्यम से उनकी रचना–प्रक्रिया और रचनात्मक सरोकारों के साथ ही उनके युग की साहित्यिक चिंताओं को भी समझा जा सकता है। प्रेमचंद के बाद अपनी अलग पहचान बनाने वाले कहानीकारों में जैनेंद्र का उल्लेख सबसे पहले किया जाता है। इसका कारण यह है कि ये कहानियाँ उनके आसपास के जीवन और परिचित यथार्थ के बीच से सीधे उठाकर नहीं लिखी गई हैं। कहानियों में सामाजिक यथार्थ के साथ ही अपने समय और शाश्वत समय के बीच संवाद का अहसास होता है। ये कहानियाँ छोटे–छोटे वाक्यों और सामान्य बोलचाल की–सी भाषा में गहन मानवीय संदर्भों को उठाती हैं और कहानी अपनी समाप्ति के साथ ही मानव जीवन के किसी अप्रत्याशित सत्य को उद्घाटित कर देती है। बहुत सामान्य शब्दावली और वाक्य विन्यास के होते हुए भी ये कहानियाँ जैनेंद्र की अपनी पहचान बन गई हैं, जिनका अनुकरण संभव नहीं है। कुछ भी असाधारण न होते हुए भी असाधारणता का अहसास प्रदान करने वाली जैनेंद्र की कहानियाँ केवल भाषा और शिल्प के स्तर पर ही नहीं, कथ्य के स्तर पर उतनी ही अलग हैं। एक सामान्य और परिचित प्रसंग उनके यहाँ विशिष्ट और असाधारण बन जाता है।

जैनेंद्र अपने पूर्ववर्ती कथाकारों – गुलेरी, प्रसाद या प्रेमचंद की भाँति राष्ट्रप्रेम और रागात्मक संबंधों के द्वंद्व को अपनी कहानियों में विषयवस्तु के रूप में चुनते तो हैं, लेकिन उनका ध्यान अपने पूर्ववर्तियों की भाँति सार्वजनिक बनाम निजी दायित्व बोध के टकराव के बीच अनिर्णय का नहीं है। उनकी कहानियों के केंद्र में भी उनके समय की हाशिए में खड़ी स्त्री है, मगर उस स्त्री का संकट या द्वैध प्रेम के प्रसंग में भावना या दायित्व का नहीं, स्त्री के निजी अस्तित्व का है और यह प्रवृत्ति उनके सभी महत्वपूर्ण कहानीकारों में देखने को मिलती है। इस अंतर को 'उसने कहा था' (गुलेरी) के सूबेदारनी और लहना सिंह, 'आकाश दीप' (प्रसाद) के चंपा और बुद्धगुप्त एवं 'फांसी' (जैनेंद्र) के शमशेर और जुलैका के संबंधों के द्वंद्व के माध्यम से समझा जा सकता है।

यह धारणा भी गलत है कि जैनेंद्र की कहानियाँ विचार को उद्वेलित करने वाली हैं, उनमें सामाजिक यथार्थ का द्वंद्व नहीं दिखाई देता। इस संदर्भ में उनकी पहली कहानी 'स्पर्द्धा'

का उदाहरण दिया जा सकता है। इस कहानी के प्रकाश में आने के पीछे के घटनाक्रम के बारे में बताते हुए उन्होंने खुद ही लिखा है कि अपनी बेकारी के दिनों में कुछ अर्थलाभ की आशा से अपने एक संपादक–मित्र के आग्रह पर यह कहानी उन्होंने सुबह से शाम तक बैठकर लिखी थी क्योंकि शाम को दफ्तर बंद होने से पूर्व ही उन्हें कहानी पहुँचानी थी। लेकिन उस कहानी पर संपादक मित्र की राय बहुत उत्साहवर्द्धक न पाकर जैनेंद्र ने वे बेतरतीब स्लिपें प्रेमचंद को भेज दी थीं, जो तब 'माधुरी' के संपादक थे। प्रेमचंद ने भी उसे नहीं छापा। वापस मिली कहानी की स्लिपों के साथ प्रेमचंद द्वारा लिखे गए एक अंग्रेज़ी वाक्य पर उनकी दृष्टि अवश्य अटकी – Please ask if this is a translation. 'स्पर्द्धा' इटली की पृष्ठभूमि पर विदेशी पात्रों को केंद्र में रखकर लिखी गई कहानी है, इसीलिए उन्हें लगा कि वह मौलिक न होकर किसी विदेशी कहानी का अनुवाद है। मगर 'स्पर्द्धा' विदेशी परिवेश में भी क्रांति और अहिंसा की बहस को केंद्र में रखकर विकसित होती है। कहानी के पात्र बेंजिलो और गिडिटो दो मित्र हैं जो एक गुप्त क्रांतिकारी दल से संबद्ध हैं। एक का आदर्श नेपोलियन है और दूसरे के बुद्ध और ईसा। इसके बाद उनकी 'फांसी' संग्रह की कहानियाँ, जिनमें 'फांसी', 'गदर के बाद', 'जयसंधि' जैसी क्रांतिकारियों के संघर्ष की कहानियाँ शामिल हैं, जिन्हें प्रेमचंद के संग्रह 'सोजेवतन' और उग्र के 'चिंगारियाँ' के साथ जोड़ा जा सकता है।

18.3.2 अज्ञेय

अज्ञेय (7–3–1911 – 4–4–1987) का वास्तविक नाम सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन है किंतु उन्होंने कहानियाँ 'अज्ञेय' नाम से ही लिखी हैं। मुख्यतः कवि और विचारक हैं लेकिन साहित्य की सभी विधाओं पर समान रूप से लिखा है। हिंदी में प्रयोगवादी कविता के जनक माने जाते हैं और इस प्रकार के सात–सात कवियों की चुनी हुई कविताओं के अलग–अलग चार संकलन 'तार सप्तक' नाम से संपादित किए। कथा–साहित्य के क्षेत्र में बहुत कम लिखा है, लेकिन जो भी लिखा, उसने एक नई परंपरा का सूत्रपात किया। उनका पहला उपन्यास शेखर : एक जीवनी' 'गोदान' के बाद हिंदी का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास माना जाता है। भाषा, शिल्प और विधा– संयोजन में अपनी रचनाओं में इतना श्रम शायद ही कोई दूसरा लेखक करता हो। प्रत्येक विधा में विषय–वस्तु के अनुरूप भाषा और शिल्प का चयन ही नहीं, कलात्मक सृष्टि के निर्माण में उनका कोई सानी नहीं।

अज्ञेय का पहला कहानी–संग्रह 'विपथगा' 1937 में प्रकाशित हुआ, जिसके बारे में टिप्पणी करते हुए बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा, ''अपनी प्रत्येक कहानी में वह विद्यमान हैं, एक ऐसे युवक के रूप में जिसमें उत्साह है, दृढ़ता है, आदर्श के लिए मर–मिटने की चाह है, जो हथेली पर जान रखकर उस पर प्रयोग करने में आनंद लेता है, पर जिसमें विवेक का अभाव है, जो बेजान बुड्ढे आदमियों को मयस्सर होता है, उस हिसाबीपन की कमी है, जिस पर दुनियावी आदमी अभिमान किया करते हैं, और फूंक–फूंक कर कदम रखने की उस प्रवृत्ति का नामोनिशान नहीं जो हाथ–पैर बचाकर मूँजी को तरकाने वाले आदमी में पाई जाती है।'' अज्ञेय की कहानियों पर व्यक्त की गई यह प्रतिक्रिया आज भले ही अनर्गल अनुभव होती हो, यह टिप्पणी उस वक्त के शुद्धतावादी आलोचकों के एकपक्षीय सोच को उद्‌घाटित करती है।

जैनेंद्र की तरह अज्ञेय को भी व्यक्तिवादी कथाकार के रूप में देखा जाता रहा है, उन पर भावुक आदर्शवादी होने के आरोप भी लगते रहे हैं, लेकिन उनके द्वारा क्रांति के समर्थन में लिखी गई कहानियों की संख्या भी कम नहीं है। 'हारिति', 'अकलंक', 'द्रोही', 'विपथगा' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। आलोचकों के इन आरोपों का उत्तर देते हुए अज्ञेय

ने स्वयं लिखा है, ''पर उस समय के क्रांतिकारी आदर्शवादी थे, आदर्शवादी होते थे और आदर्शवादी होना गौरव की बात समझते थे। अगर उस काल के आदर्शवाद में एक रोमानी भोलापन भी झलकता है तो यह वास्तविक स्थिति का ही प्रतिबिंब है : आतंकवादी आंदोलन में एक रोमानी भोलापन था और उनमें से कोई भी तब रोमानियत या भोलेपन के आरोप पर लज्जित न होता। वे भी नहीं, जिन्होंने अनंतर रोमानियत–विरोधी मोहभंग की मुद्राएँ अपनाई।...'' देश विभाजन पर भी अज्ञेय ने कहानियाँ लिखी हैं, जैसा कि उन पर कुछ लोग आरोप लगाते रहे हैं कि वे अत्यंत अंतर्मुखी लेखक हैं। मानवीय जिजीविषा और उल्लास तथा उमंग की कहानियों की भी उनके यहाँ कमी नहीं है। 'जिजीविषा', 'चिड़ियाघर', 'पहाड़ी जीवन', 'अलिखित कहानी' और 'खितीन बाबू' ऐसी ही कहानियाँ हैं। सांकेतिकता और प्रभाव–सघनता की दृष्टि से 'गैंग्रीन', 'हिलीबोन की बत्तखें' और 'जयदोल' जैसी तथा एक स्वतंत्र रचना–लोक की सृष्टि के रूप में 'अमरवल्लरी' और 'पगोडा वृक्ष' जैसी कहानियों को किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य खोज पाना संभव नहीं है। दूसरी ओर 'साँप', 'पठार का धीरज' और 'कलाकार की मुक्ति' जैसी अमूर्तन की प्रवृत्ति समेटी हुई कहानियाँ भी एक भिन्न और मौलिक रंग से सराबोर हैं।

18.3.3 यशपाल

यशपाल (3–12–1903 – 26–12–1976) की कहानियों का पहला संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' 1939 में प्रकाशित हुआ। इसमें सन् 34 से सन् 38 के बीच जेल में लिखी गई कहानियाँ संकलित थीं। यशपाल के लगभग सोलह कहानी–संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें मध्यवर्गीय जीवन की छोटी–छोटी समस्याओं को बेहद संवेदनशील अंदाज़ में प्रस्तुत किया गया है। वे अपने व्यक्तिगत जीवन में भी क्रांतिकारी रहे थे और स्वतंत्रता संग्राम में उन्होंने बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया था। वे विचारों से घोषित मार्क्सवादी थे और गाँधी के मार्ग के विरोधी। मगर यह बात आश्र्चजनक लगती है कि उनकी कहानियों में कहीं भी उनकी राजनीतिक विचारधारा के प्रति कोई आग्रह या पूर्वाग्रह नहीं दिखाई देता। मध्यवर्ग की असंगतियों, कमजोरियों, विरोधाभासों, रूढ़ियों आदि पर इतना प्रबल कशाघात करने वाला कोई दूसरा कहानीकार हिंदी में कम ही देखने को मिलता है। मध्यवर्ग अपनी ही रूढ़ियों में जकड़ा हुआ कितना दयनीय हो जाता है, इसका अच्छा उदाहरण उनकी कहानी 'चार आने' है। झूठी और कृत्रिम प्रतिष्ठा के बोझ को ढोते–ढोते यह वर्ग अपने दैन्य और विवशता में उजागर हो उठा है। 'गवाही' और 'सोमा का साहस' में समाज के गलीज, नकाब और कृत्रिमता की तस्वीरें खींची गई हैं।

यशपाल के कहानी संग्रहों की भूमिकाओं में ऐसे सूत्र पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं जिनसे कहानी–रचना के उनके उद्देश्य के साथ ही उनकी रचना–प्रक्रिया पर भी प्रकाश पड़ता है। 'वो दुनिया' की कहानियों के बारे में यशपाल लिखते हैं, ''इन कहानियों में उस दुनिया का कोई स्पष्ट चित्र नहीं दिया जा सका। यत्न किया गया है, इस दुनिया के वैषम्य की ओर संकेत करने का। इस दुनिया की कटुता से ही उस दुनिया की चाह उठती है और इसीलिए दिल पुकार उठता है – 'वो दुनिया'।'' अपनी साहित्यिक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए वह अपने एक अन्य कहानी–संग्रह 'तर्क का तूफान' की भूमिका में लिखते हैं, ''कर्म की शक्ति का स्रोत मेरी तर्क की अथवा विचार की शक्ति ही है। मैं मनुष्य समाज का एक औसत प्राणी हूँ। अपनी परख से मैं मानव समाज के इस गुण को पहचान सकता हूँ और इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि समाज की संचालक शक्ति उसके विचारों की गति में होती है और इसीलिए क्रांति के पूर्व तर्क का तूफान आता है या कहिए, क्रांति के बादल तर्क के तूफान पर ही चढ़कर आते हैं।''

यशपाल कला के शुद्धतावादी सिद्धांत का खंडन करते हैं और कला की सामाजिकता का पक्ष लेते हैं। कहानी का प्रयोजन वे केवल नैतिक मान्यताओं की घोषणा करना नहीं मानते, रसोद्रेक द्वारा नैतिकता और मान्यता को ग्राह्य बनाना मानते हैं। वे न तो सौंदर्य और नैतिकता की परंपरागत परिभाषा का आँख मूँदकर खंडन करते, न स्वीकार। मानव–मन के यथार्थ को समझने तथा उसके अन्य लोगों की सहायता करने के प्रसंग में यदि उसकी सार्थकता समझते हैं, तभी वे उसका समर्थन करते दिखाई देते हैं।

यशपाल की पहले दौर की कहानियों में कभी किसी निहायत मामूली बात पर हल्की–सी चुटकी ली गई है तो कभी समाज की असंगत और अन्यायपूर्ण स्थितियों पर व्यंग्य करते हुए सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष को वाणी दी गई है। प्रेमचंद के बाद किसी भी दूसरे लेखक ने न तो इतनी बड़ी तादाद में विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और संस्कारों वाले पात्रों के एक जीवंत और विश्वसनीय संसार की रचना की, और न ही इतने ज्यादा मुस्लिम पात्रों को केंद्र में रखकर कहानियाँ लिखीं, जितनी कि यशपाल ने। 'कुत्ते की पूँछ', 'परदा', 'गंडेरी', 'अस्सी बटा सौ', 'या साई सच्चे', 'आदमी का बच्चा' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

यशपाल की दूसरे दौर की कहानियों में उनकी विवादास्पद कहानियाँ शामिल हैं। इन कहानियों में वे जीवन के सहज और स्वाभाविक विकास को कुंठित करने वाली हर चीज से संघर्ष करते हैं। 'फूलो का कुरता', 'प्रतिष्ठा का बोझ', धर्म रक्षा', 'आतिथ्य', 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुंदर हूँ' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। अगले दौर की कहानियों में यशपाल पौराणिक संदर्भों की ओर मुड़ते दिखाई देते हैं, जिस पर उनके कई प्रशंसकों ने आश्चर्य प्रकट किया है। किंतु इन कहानियों में यशपाल का उद्देश्य अतीत का गुणगान नहीं, अतीत के संदर्भों से वर्तमान के अंतर्विरोधों को उजागर करना है। ये कहानियाँ उनके 'उत्तमी की माँ', 'सच बोलने की भूल', 'खच्चर और आदमी' तथा 'भूख के तीन दिन' संग्रहों में संकलित हैं।

यशपाल ने तीन सौ से अधिक कहानियाँ लिखी हैं, संख्या में इतनी अधिक होते हुए भी वे न तो कहानी–कला के मानदंडों को शिथिल करती हैं और न मनुष्य के प्रति लेखक की वचन–बद्धता को कमजोर करती दिखाई देतीं हैं।

18.4 सारांश

इस इकाई को आपने ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा। इसे पढ़ने के बाद :

- हिंदी कथा–साहित्य के तीसरे और महत्वपूर्ण युग तथा उसमें लिखने वाले कहानीकारों के बारे में बता सकते/सकती हैं।
- हिंदी कहानी के प्रथम युग 'प्रेमचंद–पूर्व युग', द्वितीय युग 'प्रेमचंद युग' के साथ प्रेमचंदोत्तर युग की कहानियों के अंतर को जान सकते/सकती हैं। इकाई में बताया गया है कि इस युग में 'प्रेम' की अवधारणा में किस प्रकार अंतर आया। पहले देश के प्रति प्रेम को, जिसे 'कर्तव्य' कहा जाता था, सबसे अधिक महत्व दिया जाता था, इस युग में प्रेम की अवधारणा व्यक्तिगत संबंधों में सिमटती चली गई।
- इस इकाई में आपने पढ़ा कि 1930 से 1950 के इस कालखंड में पश्चिमी विचारधाराओं का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से मार्क्सवाद और

मनोविश्लेषणवाद का, जिनके फलस्वरूप साहित्य में प्रगतिवाद, यथार्थवाद आदि आंदोलनों का जन्म हुआ।

- प्रेमचंदोत्तर युग की कथाकार चतुष्टयी (जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल और इलाचंद्र जोशी) के बारे में आपने जाना तथा इन कहानीकारों की कहानियों में दिखाई देने वाले अंतर को जाना। उदाहरण के लिए आपने जाना कि जैनेंद्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि मनोविश्लेषणात्मक धारा के तथा यशपाल, उपेंद्रनाथ अश्क, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, सुभद्राकुमारी चौहान आदि सामाजिक कथा धारा के कहानीकार हैं।

- इस इकाई में आपने जाना कि इस युग के कहानीकारों पर पश्चिमी आंदोलनों के अलावा भारतीय साहित्यकारों का भी प्रभाव दिखाई देता है, जिनमें बांग्ला कथाकारों – रवींद्रनाथ टैगोर तथा शरतचंद्र चट्टोपाध्याय एवं उर्दू के 'अंगारा ग्रुप' का प्रभाव मुख्य है।

अभ्यास

1. कहानी में प्रगतिवाद की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
2. मनोविश्लेषणवाद के कहानी के विकास में अवदान को समझाइए।
3. जैनेन्द्र की कथा–यात्रा पर टिप्पणी लिखिए।
4. अज्ञेय की कथा–शैली की विशिष्टताएँ स्पष्ट कीजिए।
5. यशपाल की कहानियों में किस प्रवृत्ति की ओर झुकाव है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 19 नई कहानी और साठोत्तरी कहानी

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 नई कहानी

19.3 साठोत्तरी कहानी

19.4 मध्यवर्ग की विसंगतियाँ और अंतर्विरोध

19.5 नये शिल्प की तलाश

19.6 सारांश

अभ्यास

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में 'नई कहानी' और 'साठोत्तरी कहानी' की विशेषताओं को रेखांकित किया गया है। आजादी के बाद कहानी के कथ्य और शिल्प में तेजी से बदलाव आया जिसने 'कहानी' को एक नया व्यक्तित्व दिया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- नई कहानी की मूल विशेषताओं और प्रवृत्तियों को रेखांकित कर सकेंगे/सकेंगी।
- नई कहानी में व्यक्त यथार्थ और अभिव्यक्ति पर विचार कर सकेंगे/सकेंगी।
- साठोत्तरी कहानी के विकास को पहचान सकेंगे/सकेंगी।
- नई कहानी और साठोत्तरी कहानी की बारीकियों को लक्षित कर सकेंगे/सकेंगी।
- कुल मिलाकर आजादी के बाद से 1970 तक लिखी कहानियों का लेखा–जोखा कर सकेंगे/सकेंगी।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

19.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम 'नई कहानी' और 'साठोत्तरी कहानी' की विशिष्ट प्रवृत्तियों की चर्चा करने जा रहे हैं। 'नई कहानी' आजादी के बाद का प्रमुख कहानी 'आंदोलन' है जो आजाद भारत की आकांक्षाओं और सपनों के साथ आगे बढ़ा और नई अभिव्यक्तियों को स्थान दिया, जिनमें नारी प्रमुख है। इस दौरान बदलते स्त्री–पुरुष संबंध, शहरी परिवेश, मध्यवर्गीय परिवार का तानाबाना, पुराने और नये के बीच का संघर्ष कहानियों में कई–कई प्रकारों से उभरा।

'साठोत्तरी कहानी' यानी बीसवीं शताब्दी के साठ के दशक और सातवें दशक यानी 1960 से 1970 के बीच लिखी कहानियां। यहां हम 1961 और 1970 के बीच लिखी हिंदी कहानियों को केंद्र में रखकर उस दौरान लिखी कहानियों, कहानीकारों की विशिष्टताओं और विशिष्ट प्रवृत्तियों पर गौर करेंगे। आजादी के बाद और खासतौर पर 1950 के बाद

जो कहानियां लिखी जा रही थीं उन्हें 'नई कहानी' का नाम दिया गया। 'नई कहानी' ने नई बारीकियां, औजार, मानदंड और मापदंड अपनाए जिनके आधार पर 'पुरानी' कहानियों के बरक्स 'नई कहानी' को रखा गया; खासतौर पर 1950 के बाद लिखी गई कहानियां। इस इकाई में पहले हम 'नई कहानी' को समझने का प्रयास करेंगे और फिर उसे सेतु बनाकर साठोत्तरी कहानी तक पहुंचेंगे। 'नई कहानी' में 'व्यक्ति ' की केंद्रीयता बढ़ी, यथार्थ के प्रति आग्रह बढ़ा, वर्तमान की विसंगतियों और विद्रूपताओं का घनघोर चित्रण, बदलते स्त्री–पुरुष संबंध और स्त्री की स्वतंत्र अभिव्यक्ति, प्रेम की जटिलताएं, हताशा और मोहभंग, कामकाजी महिलाओं की समस्या, शहरी संस्कृति और बदलते मानव मूल्य, पूंजीवादी संस्कृति के प्रकोप, पूंजीवाद और प्रजातंत्र के गठजोड़ से उपजा भ्रष्टाचार, जैसे विषय कहानी के जरिए उभरे जो निश्चित रूप से समकालीन परिवेश और प्रवृत्ति के दबाव से सामने आए। कहानी बदली, कहने का रंग ढंग बदला, निजता बढ़ी, सांकेतिकता को तरजीह दी गई, बारीकियां बढ़ीं, वर्णन बहुलता घटी, बिंब प्रधान हुए, कहानी में कविता जैसी सघनता पैदा हुई। 'भोगा हुआ यथार्थ' और 'अनुभूति की प्रामाणिकता' 'नई कहानी' की कसौटी बनी। 'नई कहानी' के दौरान लिखी जा रही कहानियों की दो मुख्य धाराएं थीं; एक धारा में शामिल हैं : निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और दूसरी धारा में शामिल हैं : फणीश्वरनाथ रेणु, शिव प्रसाद सिंह, भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, अमरकांत और शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई, शानी, पर इन दो धाराओं में 'नई कहानी' को कैद नहीं किया जा सकता है। इस दौर में महिला कथाकारों की सक्रियता खासतौर पर ध्यान खींचती हैं जिन्होंने स्त्री–पुरुष संबंध, समाज को देखने का बदलता नजरिया और बदलते रिश्ते–नातों के आधार पर कहानी लिखकर कहानी संसार को एक नई सौगात दी। कृष्णा सोबती, ऊषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी, चंद्र किरण सौनरेक्सा जैसी हिंदी कथाकारों ने हिंदी कहानी को वह दृष्टि दी जो अब तक मौजूद नहीं थी।

अब इस आलोक में हम देखने का प्रयास करें कि साठ के बाद क्या बदला, क्या कुछ घटित हुआ कि इस दौर की कहानियों पर अलग से विचार करने की बात उठी।

साठ से सत्तर के बीच का दशक पराजय, मोहभंग, ऊहापोह और दिशा–हीनता का दौर था। 1962 में चीन का हमला और उसमें भारत की हार; 1964 में नेहरू जी की मृत्यु; बेतहाशा महंगाई, अमीर–गरीब का तेजी से बढ़ता फासला, राजनीतिक अस्थिरता और बनती बिगड़ती सरकारें, बढ़ता भ्रष्टाचार, नक्सलवादी आंदोलन का उभार, साम्यवादी दलों में टूट और विभाजन, पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि की बनिस्पत औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के कारण गांव से शहरों की ओर पलायन और शहर की आपाधापी में गुम होते रिश्ते और अकेलापन, गुमनामी का सच, आजाद भारत का सच था। इस अवधि में भारत को दो–दो युद्ध लड़ने पड़े जिससे आर्थिक बोझ और भी बढ़ा। जिस भ्रष्टाचार ने आज तांडव–नृत्य कर रखा है उसका बीजवपन इसी दशक में हुआ।

कुल मिलाकर देश की हालत नाजुक थी और जनता की निराशा चरम पर थी। यह ठीक है कि इस दौरान मध्यवर्ग की ताकत में उछाल आया पर इस नए मध्यवर्ग के पास कोई विचारधारा नहीं थी : मध्यवर्ग बेलगाम बढ़ा और बुद्धिजीवी विचारधाराओं के पीछे भागते रहे। साम्यवादी दल के टूटने से वामपंथ भी कमजोर हुआ जो बुद्धिजीवियों को विचारधारात्मक संजीवनी देने का एक अक्षय स्रोत था। अब मध्यवर्ग, जो शहरों में रहने तो चला आया, और तेजी से शहर की रीत भी सीख रहा था पर उसका अंतर्विरोध उसकी पहचान बनती जा रही थी। 'नई कहानी' मध्यवर्ग के इसी अंतर्विरोध की कहानी है और

'साठोत्तरी कहानी' भी मध्यवर्ग के इसी अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति दीखती है पर अब उसके तेवर तीखे हो गए हैं, और वह ज्यादा 'खुले' रूप में बात करने लगा है। परंपरागत संस्कारों और वर्जनाओं को तोड़ने की प्रवृत्ति भी मिलती है। प्रेम विवाह, अंतरजातीय विवाह, विवाहेतर प्रेम, इस दौर की कहानियों में उतरा है और 'सेक्स' का भी ज्यादा बेबाक चित्रण इस दौर की कहानियों में दीखता है। खास बात यह है कि इस दौर के कहानीकार अपने को 'नई कहानी और कहानीकार' से अलगाने का प्रयास कर रहे थे। इस इकाई में हम यही पड़ताल करेंगे कि 'साठोत्तरी कहानी' अपने पूर्वजों से और खासकर अपने अग्रजों से कैसे अलहदा थी, या फिर यह उनके मन का फितूर था और वे 'नई कहानी' की शहरी और मध्यवर्गीय मानसिकता और उसकी विद्रूपताओं को ही उजागर करने में लगे थे।

इस इकाई में अध्ययन के लिए कहानियों को केंद्र में रखेंगे और फिर उनके जरिए उस समय की प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास करेंगे। 'नई कहानी' साथ–साथ दस्तक देती रहेगी और 'साठोत्तरी कहानी' के उनसे अलग होने के दावे पर हुंकारी या नकार मारती रहेगी। तो चलें देखें क्या कुछ घट रहा है इस दौरान।

19.2 नई कहानी

1950 के आसपास हिंदी कहानी का नया दौर सामने आया। इसे 'नई कहानी' के नाम से जाना गया। प्रेमचंद की 1930 के बाद की कहानियों में विचार का स्थान संवेदना और घटनाओं का स्थान कार्यव्यापार ने ले लिया। 'नई कहानी' प्रेमचंद की 'पूस की रात' और 'कफन' से सूत्र ग्रहण कर आगे बढ़ी है परंतु उसे कब पीछे छोड़ दिया यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है। कहानी में प्रतीकात्मकता और बिंबात्मकता का महत्व बढ़ा। कहानीकार आजादी के बाद के नए यथार्थ का नए ढंग से चित्रण करने लगा।

'नई कहानी' का नयापन उसकी विद्रोह चेतना में अंतर्निहित है। आलंकारिक भाषा में कहें तो 'नई कहानी' समकालीन व्यवस्था के प्रति विद्रोह का शंखनाद है। भारत को आजादी मिली। दो सौ साल की पराधीनता के बाद मिली आजादी अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि थी। लेकिन आजादी मिलने के साथ ही उस पर ग्रहण लग गया। आजादी मिलते ही देश का विभाजन हो गया और शरणार्थियों और विस्थापितों के भूखे, नंगे और अंदर–बाहर से घायल काफिले से देश की आत्मा घायल होने लगी। सारा देश खून से लथपथ हो गया। हत्याओं और नृशंसताओं का नंगा नाच होने लगा। भाई ने भाई को पहचानने से इन्कार कर दिया। पिछला सब कुछ भस्म हो गया। भारत की आजादी के साथ सपने जुड़े थे। प्रजातंत्र और पूंजीवाद के गठजोड़ से उपजा भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचार में लिप्त समाज ने इस सपने को चकनाचूर कर दिया। झूठ का बोलबाला और सच का मुँह काला होने लगा। नेहरू जी के दिखाए सपने टूटने लगे। नया औद्योगिक समाज लोगों की संवेदनाएँ कुचलने लगा। स्वार्थ सर्वोपरि हो गया। इससे रचनाकार आहत हुआ।

लेखक को लगने लगा कि हर सिद्धांत आदर्श और संदेश नकली है, झूठ है। उसे इनमें से किसी से नहीं जुड़ना चाहिए। उसकी प्रतिबद्धता समाज के प्रति तो है पर किसी बाहरी सिद्धांत का सहारा लेकर नहीं बल्कि उसे अपने 'देसी' अनुभवों पर आधारित होना चाहिए। उसे खुद अपने प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए। 'अनुभूति की सघनता' उसकी रचना का केंद्रीय तत्व बन गया। अनुभूति के अलावा कुछ भी अभिव्यक्त करना नकली होगा, झूठ होगा। यह अनुभूति कहानीकार की स्वानुभूति थी और उसका आधार था यथार्थ।

आदर्श और विचार से हिंदी कहानी ने नाता तोड़ लिया। वह वर्तमान का वाचक बन गया। इसलिए इस युग में न तो ऐतिहासिक कहानिया लिखी गईं और न ही भविष्य के लिए कोई आदर्श निर्मित किया गया। कहानी समाज का दीपक नहीं बल्कि दर्पण बन गई जिसमें अतीत और भविष्य नहीं बल्कि वर्तमान प्रतिबिंबित होता है। कहानीकार का 'अपना' सुख–दुख ही कहानी का सुख–दुख बन गया। उसकी वस्तु तो व्यक्ति और परिस्थिति की वह घनीभूत वेदना है, परिवेश का वह अनुभूति–संपृक्त क्षण है, जो आज की वास्तविकता है, खास अपना है, और ठेठ भारतीय है। अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हो', शेखर जोशी की 'बदबू', शैलेश मटियानी की 'प्रेत–मुक्ति' और हरिशंकर परसाई का 'भोलाराम का जीव' इसका प्रमाण है कि इसकी जड़ें गहरे रूप में भारत के यथार्थ से जुड़ी हैं। इन कहानियों में व्यक्ति और परिवेश एक दूसरे में घुल–मिल गए हैं और अनुभूति ने संवेदना का रूप ले लिया है। इन कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा मालूम होता है कि कहीं कुछ आस–पास ही घट रहा है। इन कहानियों के पात्र अपने–अपने से लगते हैं। उनसे हमारा 'साधारणीकरण' हो जाता है। इनमें कहीं भी बनावटीपन नहीं लगता। अब 'जिंदगी और जोंक' के रजुआ को ही लें। ऐसे हजारों भिखमंगे सड़क पर मिल जाएँगे। रजुआ का चरित्र सामने आते ही सड़क पर घूमते भिखमंगों की तस्वीर आगे घूम जाती है। अमरकांत ने अपनी इस कहानी में इस भिखमंगे के सामने आम आदमी को और भी ओछा दिखाया है और जो दिखाया है उसमें कहीं कोई लाग–लपेट नहीं है। इसमें उन्होंने कहीं भी आदर्श का रेशमी पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं किया है। कहानीकार की निर्ममता और तटस्थता यथार्थ को और भी तल्ख और तीखे रूप में उभारने में सफल होती है। अपने इसी साहस और तेवर के कारण कहानीकार ने वास्तविकता को पूरी प्रामाणिकता और सच्चाई के साथ उभारा है।

1950 के दशक में अनेक कहानियाँ लिखी गईं जिन्हें 'नई कहानी' कहा गया क्योंकि ये नए तर्ज, मिजाज और किस्म की कहानियाँ थीं। यथार्थ से प्रत्यक्ष साक्षात्कार, आदर्श का त्याग और पुराने को तोड़कर नई लीक बनाने का आग्रह इस युग की कहानियों को नया बनाता है। 'ज़िंदगी और जोंक' (अमरकांत) में मानवीयता, 'मछलियाँ' (उषा प्रियंवदा) में प्रेम, 'मेरा दुश्मन' (कृष्ण बलदेव वैद), 'खोई हुई दिशाएँ' (कमलेश्वर) में सामाजिकता, 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी) में माँ के अपमान की कहानी आई है। 'भोलाराम का जीव' (हरिशंकर परसाई), 'प्रेतमुक्ति' (शैलेश मटियानी), 'बदबू' (शेखर जोशी)–किसी कहानी में भी रचनाकार ने कुछ छिपाया नहीं है बल्कि अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा बताया है। जड़ होती परंपरा पर वह बार–बार आघात करता है। इस लिहाज से कई कहानीकार तो कबीर और प्रेमचंद की परंपरा में दिखाई देते हैं, जैसे अमरकांत, रेणु, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवप्रसाद सिंह, शेखर जोशी आदि। यह सूची और भी लंबी की जा सकती है।

'नई कहानी' के दौर में संबंध–विघटन की कहानियाँ लिखी गईं इसलिए अधिकांश कहानियों में संबंध जुड़ते नहीं बल्कि टूटते हैं। चाहे संयुक्त परिवार का टूटना हो या एकल परिवार का या प्रेम की डोर का। सारे संबंध तड़कते नजर आते हैं।

परिवार टूटने का सीधा संबंध आर्थिक बदलाव से है। तेजी से बढ़ते औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण लोग गाँवों से शहरों की ओर भागे। वहाँ पत्नी और बच्चों के साथ उनका 'परिवार' बना। माँ और बाप या तो 'अतिथि' माने जाने लगे या 'चीफ की दावत' में कभी मुसीबत तो कभी वरदान बने। पुरानी पीढ़ी संयुक्त परिवार का आदर्श ढोती रही,

नई पीढ़ी इसे अनुपयुक्त, अनुपयोगी और अप्रासंगिक मानते हुए तोड़ती रही। पुरानी पीढ़ी आँसू बहाती रही। शानी की कहानी 'एक नाव के यात्री' पुरानी पीढ़ी की इसी यातना को उद्घाटित करती है। 'पुत्र प्रेम' भी भारतीय मानस की एक बीमारी है। कृषि संस्कृति के कारण बना बेटों का महत्व आज भी समाप्त नहीं हुआ है। बाप–माँ बेटे की प्रतीक्षा में रोते रहें परंतु जब बेटा लौटा तो उसे शिकायत है कि माँ–पिता के चेहरे पर उत्साह नहीं दिखा। उसने अपने माता–पिता के अंदर झांककर देखने की कोशिश भी नहीं की और एकतरफा फैसला सुना दिया। माँ–बाप के 'नोस्टेलजिया' और पुत्र मोह तथा नई पीढ़ी की संवेदनहीनता और माँ–बाप के प्रति घटते कर्तव्यबोध के धागों से यह कहानी बड़ी सफाई से बुनी गई है।

परिवार की बदलती संकल्पना और संबंधों के टूटने की आवाज, भीष्म साहनी के 'चीफ की दावत' और रामकुमार के 'सेलर' में साफ सुनाई देती है। 'चीफ की दावत' में माँ समस्या बन जाती है। चीफ आने वाला है। वह अमेरिकी है। उसे सामने माँ को कैसे पेश किया जाए। पुरानी चीज़ें या तो ढँक दी गईं या ठिकाने लगा दी गईं। पर माँ को न तो ढँका जा सकता है न ठिकाने लगाया जा सकता है। और अंत में तो हद हो ही गई जब शामनाथ को लगा कि माँ तो बड़ी उपयोगी 'चीज़' है। उसके हाथों से बनाई फुलकारी अगर चीफ तक पहुँच जाए तो उसकी तरक्की हो जाएगी। इसके बाद वह अपनी माँ की खुशामद और यहाँ तक कि 'इमोशनल ब्लैकमेल' करता है। मध्यवर्ग का 'सुखवाद' और 'तरक्की की लालसा' ने, जो आज अपने चरम पर है, उसी समय से व्यक्ति में घुन लगाना शुरू कर दिया था।

'सेलर' (रामकुमार) भी पारिवारिक संबंधों के चटकने की मार्मिक कथा है। लेकिन इस कहानी में परंपरागत धारणा की ही पुष्टि की गई है कि 'घर जमाई' बनकर आदमी अपना पुरुषार्थ और पहचान खो देता है। उसे अपमान का घूंट पीकर जीना पड़ता है। नौकरों सा जीवन व्यतीत करना होता है। वह केवल अपने बच्चे को 'सेलर' बनाने के लिए अपनी पूर्व पत्नी के मायके में सारे अपमानों के बावजूद टिका रहता है। परंतु न उसका व्यक्तित्व सलामत रहता है और न ही उसका बेटा 'सेलर' बन पाता है। वह तो घर का 'नौकर' बन कर रह जाता है।

पारिवारिक संबंधों के चटकने और संयुक्त परिवार के टूटने, एकल परिवार के बसने और उसकी समस्याओं पर अनेक कहानीकारों ने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। इनमें 'एक और ज़िंदगी' (मोहन राकेश), 'दूध और दवा' (मार्कण्डेय), 'विजेता' (रघुवीर सहाय) आदि कहानियाँ प्रमुख हैं। संयुक्त परिवार के टूटने और एकल परिवार के बसने से अनेक समस्याएँ सामने आईं। पति–पत्नी अपने बच्चों तक सीमित रह गए। पति पर 'बाहर' का और पत्नी पर 'घर' का बोझ पड़ा परंतु पत्नी 'घर' के साथ–साथ 'बाहर' भी निकलने लगी। वह भी शिक्षित हुई। पति पत्नी में टकराव हुआ। टकराव के बाद विलगाव हुआ। बच्चा अकेला पड़ गया। उसे लेकर अनेक समस्याएँ आईं। कभी बच्चा माँ–बाप के बीच सेतु बना कभी वह माँ–बाप के अहं को जीत न सका और बँटी जिंदगी बिताता रहा। बच्चा हो या न हो, बच्चे का 'अबार्शन' करा दिया जाए, जैसी नाजुक समस्याओं पर भी कहानियाँ लिखी गई। 'पति–पत्नी', 'प्रेमिका–प्रेमी' के कोण से भी कहानियाँ लिखी गईं और महिलाओं के विवाहेतर संबंधों को भी इन कहानियों ने मज़बूती से पेश किया। कुल मिलाकर उसमें संघर्ष करती हुई नारी को दिखाया गया है जो हाड़माँस का पुतला नहीं बल्कि सामाजिक संदर्भों में रहने वाली जीवित इकाई है।

स्त्री–पुरुष के संबंधों को लेकर इस दौर में ढेरों कहानियाँ लिखी गई हैं। इन संबंधों की स्थापना के लिए पुरानी मान्यताएँ तोड़ी गईं। प्रेम के अनेक स्तर और रूप सामने आए जो पहले की कहानियों में मौजूद नहीं थे। 'तीसरी कसम' से 'परिंदे' तक की विविधता इस युग की कहानियों में लक्षित होती है। कहाँ 'तीसरी कसम' का प्यार जिसमें सारी दुनिया का लोक रस समाया हुआ है और कहाँ 'परिंदे' का एकाकी, एकान्तिक, एकनिष्ठ और मौन प्रेम। एक प्रेम समाज के बीच खिलता है दूसरा समाज से दूर। पर गौरतलब यह है कि दोनों कहानियों में प्रेम की परिणति पीड़ा में ही हुई है। इसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'नन्हों' में भी प्रेम की परिणति पीड़ा में ही हुई है। 'नन्हों' में प्रेम का एक अलग ही रूप व्यक्त होता है। प्रेम और द्वेष का ऐसा टकराव अन्यत्र दुर्लभ है। 'मछलियाँ' में प्रेम का एक नया रंग नजर आता है जहाँ पटना में रहने वाली लड़की अपने प्रेमी से मिलने अमेरिका पहुँच जाती है। इससे पहले हिंदी कहानी में किसी लड़की ने इतनी हिम्मत नहीं दिखाई होगी। माँ–बाप को त्यागकर, यहाँ तक कि ठुकराकर वह बिना किसी अवलंब के अमेरिका पहुँच जाती है। वह पुराने मूल्यों को चुनौती देती है। 'बादलों के घेरे' में भी प्रेम की पीड़ा व्यक्त हुई है। यहाँ भी प्रेमी युगल मिल नहीं पाते, केवल 'प्रेम की पीर' ही उन्हें जोड़ पाती है। मन्नू भंडारी के 'यही सच है' में नारी के मानसिक द्वंद्व का चित्रण किया गया है। वह एक समय अपने को अजीब सी स्थिति में पाती है। अचानक एक मोड़ पर पुराना प्रेमी मिल जाता है। वह उससे नफरत और घृणा करती है। लेकिन धीरे–धीरे उसकी ओर उसका झुकाव बढ़ने लगता है और पूर्व प्रेमी उसके ऊपर हावी होने लगता है। उसे लगता है कि 'यही सच है'। लेकिन जब वह अपने वर्तमान प्रेमी के पास पहुँचती है तो उसे लगता है कि यही सच है। इस कहानी में सच की दुविधा में पड़ी नारी का यथार्थ और वास्तविक चित्रण किया गया है। इसमें कहानीकार ने किसी भी तरह का आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया है। एक साधारण मन की दुविधा को सामान्य ढंग से पेश कर दिया है।

आजादी के बीस–पच्चीस वर्ष बाद शहरों में नारियाँ आत्म–निर्भर होने लगीं। वे नौकरी करने लगीं। इसके लिए उन्हें पुराने संस्कारों से लड़ना पड़ा और नई नैतिकताओं की स्थापना करनी पड़ी। कई बार उन्होंने अपने को अकेला पाया। उनके मानसिक गठन में मूलभूत परिवर्तन आया। नए कहानीकारों ने महिलाओं के इस संघर्ष, जुझारूपन, जीत और हार का खुला चित्रण किया है। 'परिंदे' में नारी अतीत की पीड़ा दबाए सारी दुनिया से कट चुकी है। 'बादलों के घेरे' की नायिका आसमान ही निहारती रह जाती है। वह जोर से सिसक भी नहीं पाती। नए कहानीकारों ने नारी के व्यक्तित्व के अनेक पहलू पाठकों के सामने रखे हैं। वे उनके जितना ही करीब जाते हैं उन्हें उतना ही जटिल पाते हैं क्योंकि उनके भीतर कुंठाएँ और ग्रंथियाँ घर कर गई हैं जो अनेकस्तरीय, अनेकमुखी और असीमित हैं।

'अकेला होता आदमी' बार–बार इन कहानियों में आया है। वह बेकार आदमी है। एक अनजाना भय उसके अंदर समाया हुआ है। वह किसी से जुड़ नहीं पा रहा है – न अपने देश से, न परदेश से, न ही अपने आप से। चारों ओर से जो कुछ हो रहा है उसमें

ईमानदारी, प्रतिबद्धता और निष्ठा के लिए कोई जगह नहीं है। इस युग की हिंदी कहानी में इस अकेले होते आदमी पर खूब लिखा गया है। 'खोई हुई दिशाएँ', 'मेरा दुश्मन', 'दूध और दवा' कुछ ऐसी ही कहानियाँ हैं।

आम आदमी के कष्ट को भी इस युग के कहानीकार ने व्यंजित किया है। 'ज़िंदगी और जोंक', 'बदबू', 'गुलकी बन्नो', 'प्रेत–मुक्ति' और 'भोलाराम का जीव' इसी ढंग की

कहानियाँ हैं। इन्हें प्रेमचंदीय परंपरा की कहानियाँ कह सकते हैं। ये 'कफन', 'पूस की रात' और 'ठाकुर का कुआँ' की परंपरा की कहानियाँ हैं जिसमें यथार्थ को संवेदना सहित प्रस्तुत किया गया है; उस पर आदर्श का लेप नहीं चढ़ाया गया है।

कहानी आत्म–संबोधन नहीं है। वह दूसरों को 'सुनाने' के लिए लिखी जाती है। इसलिए कहानीकार को कहानी को इस ढंग से बुनना होता है कि वह पाठक की चेतना में समा जाए। जो कहानी पाठक से जितना ज्यादा तादात्म्य स्थापित कर पाती है वह उतनी ही सफल रचना होती है। कहानीकार पाठक को अपनी अनुभूति का हिस्सेदार बनाता है। कहानीकार अपनी रचनाओं में पात्रों की सृष्टि करता है। ये पात्र समाज के बीच से उठाए जाते हैं। कहानी इन्हीं पात्रों के ज़रिए पाठक तक पहुँचती है। इसलिए कहानी में अभिव्यक्ति एक चुनौती है।

इसीलिए कहानी में शैली और भाषा का महत्व और भी बढ़ जाता है परंतु कथ्य और शिल्प को अलगाना ठीक नहीं है। कथ्य और शिल्प एक दूसरे से अविभाज्य है। कहानीकार नया यथार्थबोध और जीवनदृष्टि लेकर आया जिसके लिए नई भाषा और शिल्प की आवश्यकता पड़ी। नई कहानी की भाषा सांकेतिक हो गई। इसके लिए तरह–तरह के प्रतीकों और बिंबों का इस्तेमाल किया गया। कहानी की शुरूआत और अंत का ढंग बदल गया। प्रतीक कथा के अविच्छिन्न अंग बन गए और उन्हें समझे बिना कहानी ठीक से समझी नहीं जा सकती। अमरकांत की कहानी 'ज़िंदगी और जोंक', 'ऊषा प्रियवंदा' की 'मछलियाँ', कृष्ण बलदेव वैद की 'मेरा दुश्मन', निर्मल वर्मा की 'परिंदे', शेखर जोशी की 'प्रेम–मुक्ति' प्रतीकों के माध्यम से कही गई कहानियाँ हैं। इन कहानियों के प्रतीकों को जाने बूझे बिना कहानी के सच की गहराई और घनत्व को नहीं पकड़ा जा सकता। लेकिन कभी कभी प्रतीक को पकड़ना इतना मुश्किल हो जाता है कि आरंभ में कहानियाँ घनचक्कर प्रतीत होती हैं। जैसे कृष्ण बलदेव वैद का 'मेरा दुश्मन', निर्मल वर्मा का 'परिंदे', प्रयाग शुक्ल का 'सामान', मार्कण्डेय की 'दूध और दवा', रमेश बक्षी की 'शबरी' आदि। ज्यादा प्रतीकात्मक होने से कहानियों को ठीक से न समझे जाने का भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। यह सही है कि रचनाकार की मानसिकता और यथार्थबोध रचना को समझने में मदद करता है किंतु रचना को समझने के लिए रचनाकार को जानना क्यों जरूरी है? पाठक रचना के माध्यम से रचनाकार तक क्यों न पहुँचे? फिर रचनाकार तो रचना करके उससे मुक्त हो जाता है। पाठक के सामने तो एक पाठ होता है जिसे वह पढ़ता है, रचता है और समझने का प्रयास करता है। अतः ज्यादा प्रतीकात्मकता कहानी के कई अर्थ पैदा करती है जिससे उसके कई पाठ बन जाते हैं और उसे समझने में भ्रम भी होने लगता है। एक ही प्रतीक इतने अर्थ देने लगता है कि उसका मूल अर्थ खोजना कठिन हो जाता है।

कहानी 'कहन' से दूर होती चली गई। इसमें चित्र और बिंब उभरने लगे। भाषा में वर्णनात्मकता और आख्यानपरकता का स्थान चित्रात्मकता और बिंबात्मकता ने ले लिया। कलात्मक दृष्टि से कहानी के चरण आगे बढ़े। असल में, कहानी की मूल भाषा चित्र ही है। लिपि के विकास के पहले कहानीकार चित्रों के माध्यम से ही कथा कहता था। चित्र मनुष्य की आदिम भाषा है। चित्र भी एक कहानी ही होती है। अब कहानी में शब्द–चित्र और बिंब उकेरे जाने लगे हैं। इन शब्द–चित्रों के जरिए दृश्य निर्माण किया जाता है। इनमें सूक्ष्म संवेदनाओं और मार्मिक स्थितियों की व्यंजना होती है वर्णन नहीं। 'तीसरी कसम' का एक चित्र देखिए :

''एक तो पीठ में गुदगुदी लग रही है, दूसरे रह–रहकर चम्पा का फूल खिल जाता है

उसकी गाड़ी में। बैलों को डाँटो तो इस–बिस करने लगती है, उसकी सवारी। औरत अकेली, तम्बाकू बेचने वाली बूढ़ी नहीं। आवाज सुनने के बाद वह बार–बार मुड़कर टप्पर में एक नजर डाल देता है, अँगोछे से पीठ झाड़ता है – भगवान जाने क्या लिखा है इस बार किस्मत में। गाड़ी जब पूरब की ओर मुड़ी, एक टुकड़ा चाँदनी उसकी गाड़ी में समा गया। सवारी की नाक पर एक जुगनू जगमगा उठा।''

नई कहानी ने नए सवाल उठाए। व्यक्ति, परिवार, समाज, स्त्री–पुरुष संबंध, नैतिकता आदि से जुड़े सवालों को आजादी के बाद के कहानीकारों ने बिलकुल नए अंदाज़ से देखा। उसने टूटते संयुक्त परिवार को बचाने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि आदर्श–स्थापन में तो उनकी आस्था ही नहीं थी। उन्होंने तो यथार्थ को ही अपना मूलाधार बनाया। इसलिए नई कहानी में परिवारों को टूटते हुए दिखाया गया है (शानी : एक नाव के यात्री); जहाँ मजबूरन लोक–लाज से माँ को रखना पड़ रहा है वहाँ समस्या है कि चीफ के आने पर माँ को छिपाए कहाँ (भीष्म साहनी : चीफ की दावत) संयुक्त परिवार टूटा, एकल परिवार बना, लोग शहरों में नौकरियाँ करने लगे। शहर का अकेलापन और बेगानापन उन्हें अंदर ही अंदर खोखला करने लगा (कमलेश्वर : खोई हुई दिशाएँ)। लेकिन जिंदगी कितनी भी खोखली क्यों न हो उससे जोंक की तरह चिपटना नहीं छोड़ा। (अमरकांत : जिंदगी और जोंक)। इसके अलावा व्यक्तिगत संबंधों (रमेश बक्षी : 'शबरी', राजेंद्र यादव : 'टूटना', कृष्ण बलदेव वैद : 'मेरा दुश्मन') और स्त्री–पुरुष के बदलते रिश्तों (ऊषा प्रियवंदा : मछलियाँ, मन्नू भंडारी : यही सच है, रघुवीर सहाय : विजेता) में भी यथार्थ को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया गया है बल्कि उसे पूरी तल्खी और बेबाकी से प्रस्तुत किया गया है।

'प्रेम' नई कहानी का पसंदीदा विषय रहा है। इसमें प्रेम के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। एक तरफ 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' (फणीश्वर नाथ रेणु) के हीरामन और हीराबाई की प्रेमकथा है जो एक परीकथा लगती है, तो दूसरी ओर 'परिंदे' (निर्मल वर्मा) में प्रेम की ऐकांतिक पीड़ा। 'बादलों के घेरे' (कृष्ण सोबती) में प्रेम पूरी तरह खिल भी नहीं पाता, खिलने के पहले ही वह मुरझा जाता है। 'यही सच है' (मन्नू भंडारी) की नायिका को पता ही नहीं है कि वह किससे प्रेम करे – अपने पूर्व प्रेमी से या वर्तमान प्रेमी से। वह अंत–अंत तक असमंजस में रहती है। 'शबरी' (रमेश बक्षी) में भी प्रेम का ऐसा सूक्ष्म रूप उभरा है जिसे पढ़कर पाठक दंग रह जाता है।

इन कहानियों में प्रेम अनेक रूपों में व्यंजित हुआ है परंतु इनमें मिलन नहीं विछोह है। इस काल की कहानियों में 'प्रेम की पीर' की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। न हीरामन और हीराबाई का मिलन हो पाता है, न नन्हों और रामसुभग का। 'परिंदे' की लतिका तो पीड़ा भरी प्रतीक्षा कर ही रही है।

नया कहानीकार केवल प्रेम ही करना नहीं जानता वह अपने सामाजिक दायित्व को भी समझता है। वह समाज में फैले जड़ विश्वासों पर कुठाराघात करता है (शैलेश मटियानी : प्रेत मुक्ति), वह भ्रष्टाचार की परतों को कुरेद कर रख देता है (हरिशंकर परसाई : भोलाराम का जीव); वह मजदूरों के इन्सान से मशीन बनने की त्रासदी से भी परिचित हैं (शेखर जोशी : बदबू) सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी समस्याओं के प्रति उसके सोचने का ढंग नया है। नई कहानी ने हमारे सामने नए सवाल खड़े किए और नए ढंग से सवालों के जवाब दिए। उनकी अभिव्यक्ति शैली भी बदली। प्रतीक और बिंब कहानी के वाहक बने। कथाकार ने 'मैं' को केंद्र में रखा, सब कुछ 'मैं' से ही कहलवाया। पाठक

और कथाकार की आत्मीयता और कहानी की विश्वसनीयता बढ़ी क्योंकि नए कहानीकारों ने कसम खाई थी 'जो कहूँगा सच कहूँगा, सच के सिवा कुछ नहीं कहूँगा।'

19.3 साठोत्तरी कहानी

'नई कहानी' के महिमा–मंडन के लिए 1965 में कलकत्ते में एक कथा–गोष्ठी आयोजित की गई जिसमें जैनेंद्र, यशपाल, विष्णु प्रभाकर, जैसे कथाकारों को खारिज कर 'नये कहानीकारों' को स्थापित करने का जोरदार हल्ला बोल हुआ पर इसी गोष्ठी में 'नई कहानी' के खिलाफ असंतोष के स्वर भी उभरने लगे जिसका आगाज़ इसके कुछ ही दिन बाद आरा (बिहार) में हुई कथा–गोष्ठी में हुआ। आरा में आयोजित कहानी संगोष्ठी सन् साठ के बाद उभरने वाली कथाकार पीढ़ी की गोष्ठी थी जो अपने को 'नई कहानी' के दायरे से बाहर करना चाहती थी।

इस गोष्ठी के कर्ताधर्ता गोविंद मिश्र और और विजयमोहन सिंह थे। इसमें कमलेश्वर, काशीनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, मधुकर सिंह आदि कथाकारों ने हिस्सा लिया। ध्यातव्य हो कि कमलेश्वर को छोड़कर सारे साठोत्तरी नई पीढ़ी के कथाकार हैं।

इसी गोष्ठी में साठोत्तरी दौर की कहानियों को 'साठ के बाद की कहानी', 'समकालीन कहानी', 'आज की कहानी' कई नाम दिए गए। 'अ–कहानी' नाम भी इसी गोष्ठी की उपज है, जिसके झंडाबरदार थे – गंगा प्रसाद विमल।

इस दौर के कहानीकार 'अनुभव की प्रामाणिकता' को खास तरजीह देते हैं और उनका मानना है कि इससे पहले की कहानियों में इसकी कमी थी और इस कमी को 'साठोत्तरी कहानी' पूरी करती है। कहानीकारों के दावे निश्चित रूप से दिलचस्प हैं क्योंकि 'एक टोकरी मिट्टी' माधवराव सप्रे (1860) से 1960 तक जो कहानियां लिखीं गईं वे अनुभव की प्रामाणिकता के बगैर लिखी कहानियाँ हैं, कहना बड़बोलापन लगता है पर हां, इस बात पर गौर करना चाहिए कि इस दौर के कथाकारों ने यथार्थ को किस प्रकार ग्रहण और अभिव्यक्त किया और वह पूर्ववर्ती दौर के कहानीकारों से कैसे अलग था। तो इस अनुभव की प्रामाणिकता की हम जांच करते चलेंगे, जैसे–जैसे कहानियों के पाठ खुलेंगे और हम उन पर बहस करेंगे, बातें साफ होंगी।

इस दौर की कहानियों में 'बोल्डनेस' बढ़ी, खासतौर पर स्त्री–पुरुष के संबंधों के चित्रण में, निश्चित रूप से इस दौर की कहानियों में स्त्री–पुरुष, पति–पत्नी, परिवार, समाज आदि से जुड़ी नैतिकताओं और परंपरागत धारणाओं पर वज्रपात हुआ और उस समय के मानदंडों के अनुसार 'अश्लीलता' के हद में प्रवेश कर गई।

महानगरीय जीवन की विसंगतियों और विद्रूपताओं को खुले रूप में उघाड़ा गया। 'खुलापन' साठोत्तरी कहानी की खास विशेषता है जिसकी शुरूआत 'नई कहानी' में हो चुकी थी। 'सेक्स' का चित्रण इस दौर में खूब हुआ और तत्कालीन भारतीय समाज के मानदंड ने इसे 'अश्लील' भी घोषित किया। राजकमल चौधरी, ममता कालिया, महेंद्र भल्ला, आदि कहानीकारों ने स्त्री–पुरुष संबंधों को एक 'नए' नजरिए से देखा और 'अंतरंग' प्रकरण भी कहानी के विषय बने। इतना ही नहीं पति–पत्नी के संबंध में आने वाले बदलाव भी इस दौर की कहानियों में तीक्ष्णता से उभरे। श्रीकांत वर्मा की कहानी 'साथ', 'प्रस्थान', 'ट्यूमर', 'प्रेमपत्र', 'बॉस' आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। महेंद्र भल्ला

भी इस दौर के कथाकारों में प्रमुख हैं जिन्होंने प्रेम और सेक्स का चित्रण किया। 'एक पति के नोट्स' इस दृष्टि से बेजोड़ कहानी है। राजकमल चौधरी की कहानियां सेक्स, सिगरेट और धुंआ के परिवेश में लिखी गईं जो उस समय के महानगरीय मध्यवर्ग का एक चुटकी सच था। पर इस एक चुटकी सच को राजकमल चौधरी ने जिस तल्खी से उठाया है, वह गजब है।

यह दौर मध्यवर्ग की कहानियों का दौर था और इस वर्ग की विसंगतियां और अंतर्विरोध जितने तल्ख रूप में आईं उसने इस दौर को विशिष्ट पहचान दी। ज्ञानरंजन (पिता, फेंस के इधर–उधर आदि) और दूधनाथ सिंह (रीछ), जैसे कहानीकारों ने पारिवारिक मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न उठाए और परपंरागत परिवार और मनोवृत्ति के दरकने की आवाज इनकी कहानियों में साफ सुनाई पड़ती है।

कहानी कहने का अंदाज इस दौर में बदला; अनायास नहीं सायास। 'अनुभव की प्रामाणिकता' के आधार पर अपने को अलगाने वाले साठोत्तरी कहानीकारों ने अपनी कहानियों में प्रतीकों और बिंबों का खूब उपयोग किया जिससे कहानी में बारीकी के संग–संग जटिलता भी बढ़ी। कहन में 'मैं' का चलन बढ़ा, संस्मरणात्मकता बढ़ी, प्रतीकात्मकता बढ़ी, स्थान और नाम न देने का प्रचलन बढ़ा और इस प्रकार कहानी मूर्तता से अमूर्तता की ओर बढ़ी। घटनाएं, प्रकरण, विवरण पृष्ठभूमि में चले गए और स्थितियां–परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण होती चली गईं।

आइए, अब इस दौर के प्रमुख कहानीकारों और उनकी कहानियों पर विचार करें ताकि इस दौर की कहानियों को समझने में और मदद मिली।

19.4 मध्यवर्ग की विसंगतियाँ और अंतर्विरोध

यह तो आप जान चुके हैं कि आजादी के बाद कथा–साहित्य और खासकर कहानी साहित्य में मध्यवर्ग केंद्र बिंदु बना और इसकी समस्याओं, दुविधाओं, अंतर्विरोधों, जटिलताओं को अलग–अलग कोणों और नजरिए से देखने की पहल की गई। मध्यवर्ग–जनित कुंठाओं, अकेलेपन, अवसाद, घुटन, भटकाव आदि को इस दौर की कहानियों में केंद्रीय महत्व मिला और यह साठोत्तरी कहानी की पहचान बनी।

पीढ़ियों की टकराहट

ज्ञानरंजन इस दौर के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। सातवें दशक में उन्होंने लगभग बीस कहानियां लिखीं जिनमें, 'फेन्स के इधर–उधर', 'पिता' और 'घंटा' प्रमुख हैं। 'पिता' में ज्ञानरंजन ने पिता–पुत्र संबंध का चित्रण किया है जो दो अस्मिताओं की टकराहट के रूप में सामने आया है। दो पीढ़ियां आमने–सामने हैं। सामने पिता चट्टान की तरह खड़ा है, पुत्र उस चट्टान को लांघना चाहता है पर विवश है। परंपरा और मर्यादा उसे बांधती है तो नया भावबोध उसे दहलीज लांघने और उसे अतिक्रमित करने की प्रेरणा देता है। पर ज्ञानरंजन की ये कहानियां मात्र दो पीढ़ियों की टकराहट सुनाकर ही इति नहीं कर लेती बल्कि इसकी प्रतिध्वनि सामाजिक सरोकारों और राष्ट्रीय परिवेश से टकराती है। इन कहानियों में युवा पीढ़ी की कुंठा या आक्रोश केवल अपने पिता के प्रति ही नहीं है बल्कि उस पूरे समाज के प्रति है जो युवा पीढ़ी के सपनों के अनुरूप नहीं है। इसलिए ये कहानियाँ सपनों के टूटने और मोहभंग की कहानियां भी बन जाती हैं।

ज्ञानरंजन की कहानियां आधुनिक भावबोध और संवेदना से बुनी गई हैं। 'फेंस के इधर–उधर' में परपंरा के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाया गया है जबकि आधुनिकता को वरण करने की वकालत की गई है। दो परिवारों के मार्फत सामंती और आधुनिक जीवन–पद्धति और मानसिकता को एक दूसरे के बरक्स रखा गया है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के हस्तक्षेप से पुरानी मान्यताएं टूट तो रही हैं पर यह पड़ोसियों के बीच अजनबीपन भी पैदा कर रहा है। 'फेंस के इधर–उधर', 'पिता', 'घंटा', 'अमरूद का पेड़' जैसी कहानियों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ज्ञानरंजन की 'आधुनिकता' समझ में आती है। इन सभी कहानियों में परंपराओं और रूढ़ियों की जकड़न से मुक्ति का प्रयास दिखाई देता है।

ज्ञानरंजन ने कुछ नए विषयों की भी तलाश की; जैसे उनकी कहानी 'छलांग' में किशोरावस्था को प्राप्त होते बच्चे में होने वाले आंतरिक बदलाव और 'सेक्स' संबंधी जिज्ञासा और मानसिकता को चित्रित किया गया है। इसी प्रकार 'शेष होते हुए' में एक टूटते मध्यवर्गीय परिवार की मनोदशा का अंकन है। इसके अलावा ज्ञानरंजन अपनी कहानियों में मध्यवर्ग के अकेलेपन और अजनबीयत का चित्र भी उकेरते हैं। पर यह उनकी पहचान और विशिष्टता नहीं है।

'परिवार' ज्ञानरंजन की कहानियों की धुरी रही है और इसी के जरिए उन्होंने अपनी रचनाओं को बुना है। उनकी कहानियों में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का संबंध प्रमुख होता है। पर यह बृहत्तर संदर्भ की ओर इशारा करता है। यही ज्ञानरंजन की खूबी है।

ज्ञानरंजन की यही विशेषता है कि उनकी कहानियों को पढ़ते वक्त ऐसा नहीं लगता कि इसमें कोई बड़ी बात कही गई है पर बड़ी बात कह दी जाती है। उनकी कहानियों में कुछ ऐसा है जो अंदर तक कचोटता है। ज्ञानरंजन की कहानियों में आक्रोश पैबस्त है जो उनकी कहानियों में अलग–अलग रूपों में व्यक्त होता है। एक बानगी –

''पिता तुम हमारा निषेध करते हो। तुम ढोंगी हो, अहंकारी, बज्र अहंकारी। लेकिन वह कभी चिल्लाया नहीं।''

ज्ञानरंजन अपनी रचना में भी कहीं भी 'लाउड' नहीं हुए हैं पर कहानी की संरचना में उनका गुस्सा लावे की तरह खौलता दिखाई पड़ता है। उनकी पूरी कथा–यात्रा युवा पीढ़ी की बेचैनी और असंतोष और नाराजगी और असहमति की यात्रा है।

दूधनाथ सिंह ने 1960 के बाद कहानियां लिखना शुरू कीं। उनकी कहानियाँ मध्यवर्ग के वजूद और छटपटाहट को अलग–अलग कोणों से तलाशती दिखाई पड़ती हैं। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि साठोत्तरी कहानी में मध्यवर्ग की जटिलता, उलझन, अकेलापन, निराशा, आदि को बड़े ही तीखेपन और जबरदस्त तेवर के साथ उठाया गया था जिसकी शुरूआत 'नई कहानी' से हो चुकी थी और इस मसले पर 'नई कहानी' और 'साठोत्तरी कहानी' को अलगाना थोड़ा मुश्किल भी प्रतीत होता है।

दूधनाथ सिंह अपनी कहानियों में मध्यवर्गीय निराश, कुंठा और बेचैनी को कभी सीधे–सीधे उठाते हैं तो कभी प्रतीकों, फैन्टेसी और स्वप्नकथाओं के जरिए। दूधनाथ की कहानी 'रक्तपात', 'प्रतिरोध', 'आइसबर्ग', 'शिनाख्त' और 'रीछ' को सामने रखें तो दूधनाथ सिंह की कहानियों के साथ–साथ साठोत्तरी दौर में लिखी जा रही कहानियों की दिशा और प्रवृत्ति का भी पता चल सकेगा।

दूधनाथ सिंह मध्यवर्गीय संस्कारों के कथाकार हैं। 'रक्तपात' और 'रीछ' उनकी दो प्रमुख कहानियां हैं जिसमें टूटते परंपरागत परिवार और फैलते अजनबीयत का, कहीं पति–पत्नी–माँ और कहीं पति–पत्नी के बीच पसरी अजनबीयत का प्रतीकात्मक चित्रण है। 'आइसबर्ग' में भी पुराने पारिवारिक संबंधों के दरकने का दर्द छिपा है। इन सभी कहानियों में कोई विकल्प नहीं सूझता बस पुराने और नए के बीच अनास्था और शंकालु आस्था के बीच संबंध पेंडुलम की भांति, डोलते रहते हैं। ज्ञानरंजन की 'पिता', 'अमरूद का पेड़', 'फेंस के इधर–उधर' कहानियों में भी पुरानेपन और नएपन के बीच की टकराहट और दुविधा ही सामने आती है। असल में इस दौर के अधिकांश कथाकार गाँव छोड़कर शहर में आए और गाँव को, वहां रहने वाले माता–पिता यहां तक कि पत्नी को भी भूल गए। इससे व्यक्तियों और संबंधों में आंतरिक 'रक्तपात' होता है जिसे दूधनाथ सिंह ने अपनी कहानी 'रक्तपात' में बखूबी चित्रित किया है। विवाहेतर संबंध भी इसी यथार्थ से उभरा सत्य है जिसे 'शिनाख्त' जैसी कहानी में व्यक्त किया गया है जिसमें एक स्त्री एक ही दिन–रात में अलग–अलग समय कभी पति के साथ हमबिस्तर होती है कभी प्रेमी के साथ। यह शहरी मध्यवर्गीय यथार्थ साठोत्तरी कहानियों में बार–बार उभरा है। ये कहानियां नैतिकता–अनैतिकता का सवाल भी उठाती हैं और इस दौरान भारतीय आदर्श संहिता पर अपनी बेबाकी भरपूर चोट करती हैं।

'रक्तपात' के अलावा उषा से प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' और काशीनाथ सिंह की कहानी 'सुख' में व्यक्ति के अपने ही परिवार में बड़े अंतराल के बाद लौटने से उपजा अपरिचय और अजनबीपन इस दौर की कथा यात्रा की एक खास विशेषता नजर आती है। काशीनाथ स्वयं इस कहानी को और इस प्रवृत्ति को हिंदी कहानी में अलग मिजाज की शुरूआत मानते हैं।

रवींद्र कालिया भी अपनी कहानियों में मुख्य रूप से महानगर में रहने वाले मध्यवर्ग के व्यर्थता बोध और दिशाहीनता को ही लक्ष्य करते हैं। भटका हुआ युवा वर्ग शराब, सिगरेट और सेक्स को ही जीवन की परिणति मान बैठा है। इसके साथ–साथ कालिया पति–पत्नी के बदलते संबंधों को नए यथार्थबोध के साथ उठाते हैं और पात्र विवाहेतर प्रेम को 'सहज' रूप में स्वीकार करते दिखाए गए हैं। 'नौ साल छोटी पत्नी' का पति अपनी पत्नी के विवाहपूर्व संबंध को बड़ी सहजता से लेता है। 'त्यागपत्र' से –नौ साल छोटी पत्नी' की यात्रा एक महत्वपूर्ण यात्रा तो है पर आज भी 'त्यागपत्र' भारतीय जीवन से ज्यादा जुड़ा लगता है और 'नौ साल छोटी पत्नी' का पति आदर्शनुमा प्रतीत होता है। रवीन्द्र कालिया की कहानियों में चुलबुलापन और शोख अंदाज़ है जो उनकी कहानियों की पहचान है। 'काला रजिस्टर' जैसी कहानी में अपने जीवन से उठाई कहानी को जिस बखूबी से उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से ढाला है उसकी चर्चा अगले हिस्से शिल्पगत प्रयोग में की जाएगी।

महेन्द्र भल्ला की कहानी 'एक पति के नोट्स' में रिश्ते 'आधुनिकता' का लिबास पहनकर अलग–अलग रूप धरते हैं। प्रेम विवाह किया, विवाह के बाद भी खूब मौज मस्ती है, कोई गिला–शिकवा नहीं। पर धीरे–धीरे कहानी बताती है कि पति–पत्नी के संबंध में स्वाभाविकता नहीं है और पति पत्नी से ऊब चुका है। गजब है कि एक औरत के रूप में उसे अपनी स्त्री अच्छी लगती है पर जैसे ही उसे याद आता है कि वह मेरी पत्नी है उसे उबकाई आने लगती है और अपनी पत्नी से बहुत कम सुंदर पड़ोसन से प्रेम प्रसंग बढ़ाने लगता है। पत्नी से सेक्स भी करता है तो मन में चित्र किसी नायिका के बनाता है। प्रेम, परिवार और सेक्स इस दौर की कहानियों में खूब उभरा और रमेश बक्षी, राजकमल चौधरी, गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी ने भी इस 'प्रामाणिक अनुभव' को कहानी में ढाला है।

स्त्री–जीवन का नया यथार्थ

इस दौर में कई स्त्री कथाकारों ने भी कहानी लेखन की शुरूआत की जिसमें उषा प्रियंवदा, ममता कालिया, कृष्णा अग्निहोत्री ने स्त्री जीवन के यथार्थ को नए कोण से देखा–परखा। 'नई कहानी' के दौर की कहानीकारों कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी जैसी कथाकार की लेखनी भी चलती रही। इस दौर में स्त्री नजरिया तल्ख और 'बोल्ड' हुआ। 1960 और उसके बाद के परिदृश्य को देखें तो यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि नई कहानी के दौर की लेखिकाओं ने नए विषय और नई समस्याओं को केंद्र में रखकर कहानियाँ लिखीं; खासतौर पर स्त्रियों की घरेलू और घर से बाहर काम करने की समस्याओं पर कहानियाँ लिखी गईं। स्त्रियाँ पढ़ लिख रही थीं और पुरुषों के वर्चस्व को चुनौती देते हुए स्त्रियों की आकांक्षाओं और मन को दर्शाती कहानियाँ रची जा रही थीं। उषा प्रियंवदा की 'रूकोगी नहीं राधिका' और 'वापसी; जैसी कृतियाँ स्त्रियां को नए किरदार में पेश करती हैं। मन्नू भंडारी की 'अकेली' जैसी कहानियाँ स्त्री मन को नए धरातल पर देखने का प्रयास हैं। कृष्णा सोबती भी स्त्री को नए रूप में देखने और पेश करने का प्रयत्न कर रही थीं। 1965 के आसपास सुधा अरोड़ा, अन्विता अग्रवाल और ममता कालिया ने कहानी लेखन की शुरूआत की। सुधा अरोड़ा ने नितान्त निजी अनुभवों से प्रेरित–प्रेम संवेदनाओं से संपृक्त 'मिसफिट', 'निर्वासित', 'पति–परमेश्वर' जैसी कहानियाँ लिखीं। 'घर' कहानी में एक स्त्री का चित्रण है जो कॉलेज में पढ़ती है, अविवाहित है और अपने माता–पिता का घर संभालती है। उसमें 'अपना घर' बसाने की भी बेचैनी है। इस प्रकार की 'थीम' पर इस दौर में अनेक कहानियाँ लिखी गईं जो एक पढ़ी लिखी और नौकरीपेशा स्त्री के अंतर्द्वंद्व को रूपायित करती है।

ममता कालिया की 'बड़े दिन की पूर्व सांझ', 'वे तीन और वह', 'जिंदगी सात घंटे बाद की', 'बीमारी', 'छुटकारा', 'अपत्नी' जैसी कहानियों में मध्यवर्गीय शहरी दाम्पत्य जीवन और इसके अंतर्विरोध को लेकर लिखी गई हैं। महानगरीय जीवन में पनप रही संवेदनशून्यता का चित्रण इन कहानियों की विशिष्टता है। इस प्रकार साठोत्तरी कहानी में नए विषय और नई सोच का पदार्पण होता है इन कहानियों के जरिए।

कुसुम अंसल ने भी इसी दौर में कहानियाँ लिखीं जिनमें अभिजात वर्ग की स्त्रियों की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है। 'आज का दिन', 'स्पीड ब्रेकर', 'एक नयी मीरा' आदि कहानियों में यही सच उद्घाटित हुआ है। सिम्मी हर्शिता भी इसी दौर की कहानीकार हैं जो अपने ढंग से स्त्रियों की मनोव्यथा को टटोलने का प्रयास करती हैं। साठ के दशक के बाद मृदुला गर्ग ने अपनी कहानियों में महानगरों में स्त्री–पुरुष संबंधों में आते बदलाव को बड़ी ही तल्खी से रूपायित किया है। मंजुल भगत ने भी 1971 के आसपास कहानियाँ लिखनी शुरू की और इनकी कहानियों में उच्च वर्ग और मध्य वर्ग की स्त्रियों की नियति का चित्रण हुआ।

19.5 नये शिल्प की तलाश

कहानी के इतिहास पर ज़रा नजर डालें तो सहज अहसास हो जाता है कि कहानी अपने समय की दास्तान बयान करती है और इस प्रकार कल्पना का लबादा ओढ़ने के बावजूद सच के काफी निकट होती है। इस सच को रूपायित करने के लिए कहानी वेशभूषा बदलती रहती है। हर वक्त जब कहानी को नयेपन की तलाश होती है वह पुराना केंचुल उतार फेंकती है और नये को वरण करती है। विषय, समय और परिवेश बदलता है तो कहने का अंदाज भी बदल जाता है क्योंकि पुराने अंदाज़ से नई बात की जुगलबंदी नहीं

बैठती। प्रेमचंद–पूर्व, प्रेमचंद और प्रेमचंद के बाद की कहानियों में यह फर्क आसानी से देखा जा सकता है। आजादी के बाद 'नई कहानी' का नयापन इसी अंदाज का ही फर्क था। साठोत्तरी कहानी में भी इस अंदाज के बल पर 'नई कहानी' से अपने को अलगाने की भुनभुनाहट शुरू हो गई थी। आइए, देखें आखिर ऐसा क्या परिवर्तन हुआ साठोत्तरी कहानी में कि इसे नये व्यक्तित्व का जामा पहनाने का प्रयास किया गया।

जैसा कि हम बातचीत कर चुके हैं कि कई कहानीकार इस अवधि में अलग ढंग से सक्रिय रहे और उनकी कहानियों ने अब तक लिखी कहानियों से फर्क पैदा किया और उन्हें नई रोशनी में देखने का प्रयास किया और उनके मूल्यांकन के लिए नए आलोचनात्मक औज़ारों की जरूरत महसूस की। हम इन्हीं कुछ कहानियों के आधार पर इस दौर की कहानियों के शिल्पगत् ताज़गी पर विचार करेंगे।

ज्ञानरंजन की महत्वपूर्ण कहानियों को लें – (1) 'पिता', (2) 'फेंस के इधर और उधर', (3) 'अमरूद का पेड़'। साठोत्तरी दौर के कहानीकार अनुभव की प्रामाणिकता पर विशेष बल देते हैं और इससे अपनी कहानियों को पहले की कहानियों से अलगाते भी हैं और विशिष्टता का दावा भी करते हैं गोया पहले की कहानियों में अनुभव की प्रामाणिकता में कोई लोच हो। ज्ञानरंजन की कहानियों को देखें तो सहज ही महसूस होता है कि उनकी कहानियाँ विचारों से बुनी हुई हैं और उन्हें अपने अनुभव के रूप में पेश किया है। 'पिता–, 'अमरूद का पेड़' 'फेंस के इधर और उधर', 'मनहूस बंगला' और अन्य कहानियों में भी व्यक्तिगत अनुभव हावी है। पिता का आतंक, रोब, दृढ़ता और हठ ज्ञानरंजन के पिता की ही प्रतिच्छवि है जिसे उन्होंने अपने नजरिए से कहानी में पेश किया है। अपने इस अनुभव को प्रामाणिक रूप में पेश करने में यदि ज्ञानरंजन सफल हुए हैं तो उसका कारण है उनकी भाषा की रवानगी। ज्ञानरंजन की कहानियों में 'मैं' बार–बार आता है। संस्मरणत्मकता इस दौर की कहानियों की पहचान बनी जिसकी नींव ज्ञानरंजन ने ही रखी। प्रतीकात्मकता इस दौर की कहानियों की एक और खासियत है जिसकी शुरूआत हुई 'अमरूद का पेड़' से। ज्ञानरंजन की कहानियों में ऐसे शब्दों का भी प्रयोग है जिन्हें अश्लील कहा जा सकता है पर जो आम बोलचाल में तो धड़ल्ले से प्रयोग होता है पर लिखने से तौबा करते हैं। आप खुद पढ़कर देखें। उनकी एक कहानी है 'घंटा'; इसे पढ़े और राय बनाएँ कि क्या ये शब्द यहाँ अश्लील लगते हैं या कथन को प्रामाणिक बनाते हैं।

शिल्प की दृष्टि से दूधनाथ सिंह की कहानियाँ 'रक्तपात' और 'रीछ' विचारणीय है। इसमें मध्यवर्गीय परिवार में आ रहे बदलावों को बड़ी तीक्ष्णता से प्रस्तुत किया गया है। पर इस कहानी ने ध्यान आकृष्ट किया प्रतीक के इस्तेमाल की वजह से। इस कहानी में रक्तपात अंदरूनी है और यह उस पति का है जो पत्नी और माँ के द्वंद्वात्मक संबंधों के बीच लहूलुहान हो रहा है। यह एक विखंडित परिवार है जिसमें परंपरागत पारिवारिक मूल्य टूटकर बिखरे पड़े हैं। एक ओर बूढ़ी माँ है, तो दूसरी ओर अतृप्त आकांक्षाओं और भ्रमों से घिरी पत्नी है। यह सब अंदरूनी रक्तपात के रोगी हैं। दूधनाथ सिंह लगातार अपनी कहानियों में प्रतीकों के इस्तेमाल से पात्र और परिवेश के आंतरिक मनोजगत और त्रासदी को उजागर करते रहे। 'रीछ' भी 'रक्तपात' की तरह एक प्रतीकात्मक कहानी है जिसमें शहरी जीवन में आ रहे बदलावों को दिखाया गया है। पति पत्नी के बीच आशंकाओं और अविश्वसनीयता की दीवार खिंची है और वही रीछ बनकर उभरता है। इस कहानी में प्रतीक इतना जटिल हो गया है कि उसकी व्याख्या उतनी ही खुली हो गई है। लेखक के अनुसार जहाँ वह अतीत का प्रतीक है, मोहग्रस्तता का प्रतीक है, वहीं इस कहानी को पढ़ते वक्त किसी को यह 'सेक्स ग्रंथि' तो किसी को 'आक्रामकता', तो किसी को

विभाजित व्यक्तित्व का प्रतीक लग सकता है। रीछ की प्रतीकात्मकता इस कदर हावी है कि कथ्य नेपथ्य में जाता लगता है। साधारण शब्दो में कहें तो इस कहानी में शिल्प कथ्य पर हावी हो गया है। यही तौर तरीका अन्य कहानीकारों में उलझाव और खिलंदड़पन के रूप में भी उभरा जिसका जिक्र हम आगे करेंगे।

काशीनाथ सिंह का कहानी लेखन 1960 से आरंभ होता है और वे साठोत्तरी दौर के प्रमुख कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ भी प्रतीकात्मकता की परत से आच्छन्न हैं जिनके नये–नये अर्थ खुलते नजर आते हैं। काशीनाथ जी इसे ही इस दौर की नए मिजाज की कहानियाँ कहते हैं। काशीनाथ जी संकेतों में जीवन की विसंगतियों को उजागर करते हैं। इससे कहानी में बारीकी आ जाती है। इन सूक्ष्म इशारों को पकड़कर ही कहानी ठीक से आत्मसात की जा सकती है वर्ना सब उलटपुलट, अस्त–व्यस्त, बिखरा–बिखरा नजर आएगा। 'सुख' कहानी में सूरज का डूबना पूरी कहानी का संकेतार्थ बन जाता है और वही कहानी का चरम भी बन जाता है जिसे समझना जरूरी है। कहानीकार समाज के अंतर्विरोध को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्य या साधारण घटना को पर्याप्त नहीं मानता बल्कि ऐसी स्थितियाँ निर्मित करता है जिसका न सिर पकड़ में आता है और न पैर और व्याख्या इधर से उधर फिसलती नजर आती है। मसलन, काशीनाथ जी की एक कहानी है 'लोग बिस्तरों पर'। कहानी अजब ढंग से शुरू होती है। एक में खंड–खंड लाश पूरे कमरे में फैली है और एक आदमी उस विखंडित लाश से बतिया रहा है। लाश भी बतिया रही है। इस गपशप से कहानी का सूत्र आगे बढ़ता है और समाज में व्याप्त अजनबीपन, तर्कहीनता, रिश्तों के उलझाव जैसे यथार्थ की ओर ले जाता है। मानवीय रिश्तों और सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए कहानीकार अब अभिव्यक्ति के नये–नये नुस्खे आजमाने लगा है। अयथार्थ से यथार्थ की ओर बढ़ने का यह प्रयास साठोत्तरी कहानी के शिल्प को एक नई धार देता है।

रवीन्द्र कालिया की बतौर कहानीकार पहचान इस दौर में बनी। 'नौ साल छोटी पत्नी', 'काला रजिस्टर', 'बड़े शहर का आदमी' महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं जिनमें महानगरीय मध्यवर्गीय युवा वर्ग की दिशाहीनता, उद्देश्य हीनता, व्यग्रता और भटकाव को चित्रित किया गया है। सिगरेट, शराब और सेक्स में डूबा यह वर्ग कालिया की कहानी का केंद्र है। कालिया अपनी कहानियों में शब्दों की मितव्ययिता बरतते हैं और 'बूझो तो जाने' की शैली में कहानियाँ लिखते हैं जो कई बार अबूझ भी हो जाती है। 'काला रजिस्टर' रवीन्द्र कालिया के 'धर्मयुग' के अनुभवों पर आधारित हैं पर इस कहानी में पात्रों के नाम अजीबोगरीब हैं, जैसे – 'भैंगा', 'मोटा उप', 'बड़ी बुआजी', 'छोटी बुआजी', 'केबिन' आदि। किसी भी पात्र का अपना निजी व्यक्तित्व नहीं है। सभी पात्र कोई न कोई प्रतीक हैं जैसे 'केबिन' तानाशाही या फिर सम्पादक की तानाशाही का प्रतीक है। 'काला रजिस्टर' ही अपने आप में प्रतीक है जो कर्मचारियों पर शिकंजा कसने का हथियार है। यह काला रजिस्टर औपनिवेशिक नौकरशाही को गुलाम रखने की आदत और कवायद की अच्छी मिसाल है। व्यंग्य इस कहानी की जान है प्रतीकात्मक ढंग से लिखी जाकर यह कहानी न केवल अखबारी बनने से बच गयी है बल्कि इसे सृजनात्मक और कलात्मक सौंदर्य भी मिल गया है। शोख अंदाज कालिया की कहानियों की प्रस्तुति की विशिष्ट पहचान है।

राजकमल चौधरी ने अपनी कहानियों में महानगरीय जीवन की कुरूपता और विद्रूपता का यथार्थ नग्न रूप में प्रस्तुत किया है, बिना किसी लुकाव छिपाव के। यह वह संबंध है जहाँ पुरुष और स्त्री मात्र नर और मादा रह जाते हैं, यानी यौन–संबंध। देह और खासकर स्त्री देह उनकी कहानियों के केंद्र में है जिसके सौद से बड़ी से बड़ी चीज़ हासिल की जा

सकती है। शराब, सिगरेट और सेक्स में डूबा मध्यवर्गीय समाज ही राजकमल के निशाने पर है। राजकमल चौधरी मनष्य के भीतर छिपे 'तमस' को उजागर करने वाले कथाकार हैं। इस अंधेरे यथार्थ को उजागर करने में राजकमल चौधरी कहीं भी 'अश्लील दृश्यों', कथनों या प्रसंगों का सहारा नहीं लेते बल्कि मिथकों, प्रतीकों और भाषाई बारीकी से सब कुछ कह जाते हैं। उनकी कहानी 'पत्थर के नीचे दबे हुए हाथ' में दंतकथा का सहारा लेकर महानगरीय जीवन में व्याप्त देह–कथा को कलात्मक ऊँचाई प्रदान की गई है। राजकमल चौधरी ने अपनी कहानियों में कठिन विषयों का चयन किया है जो समाज की मर्यादाओं और नैतिकताओं को धूल धूसरित करते हैं जैसे बहू–ससुर के बीच देह–संबंध। कमाल है कि कहानी कहीं भी अश्लील नहीं होती और नारी पुरुष दैहिक संबंध का प्राकृतिक और स्वाभाविक चित्रण बन जाती है। संवेदनात्मक गहराई और सांकेतिक तीव्रता राजकमल चौधरी को इन कठिन विषयों को पेश करने का साहस और तकनीक प्रदान करती है।

विचार इस दौर की कहानियों की विशेषता है और कहानीकार भरसक भावुकता से परहेज करता है। इनके पात्र काफी पेशेवर हैं और भावुकता से लबरेज संबंधों को नकारते हैं। रमेश बक्षी की कहानियों में आया प्रेम, मानवीय रिश्ते, सामाजिक संबंध का भावुकता से दूर–दूर का नाता नहीं है और सभी सामाजिक–नैतिक बंधनों को नकारता है। रमेश बक्षी का व्यक्तिगत जीवन भी काफी उथल–पुथल से भरा रहा और उनके जीवन में कभी भी स्थिरता नहीं आ पाई। उनकी कहानियों में भी इस बेचैनी, उकताहट, ऊब के सहज दर्शन हो जाते हैं। इन कहानियों के कथ्य के बीच से ही शिल्प की कोंपले भी फूटती है और एक उदास, अनमना परिवेश चारों ओर बिखरा नजर आता है। 'नई कहानी' की उदासी और अनमनेपन से यह बहुत अलग या विशिष्ट प्रतीत नहीं होता। इस दौर के कहानीकारों की तरह रमेश बक्षी भी अपनी कहानियों में संकेतों और प्रतीकों का खूब प्रयोग करते हैं। प्रतीक का अतिरेक इतना है कि स्थिति और कथ्य भी कई बार अबूझे और अस्पष्ट हो जाते हैं।

गोविंद मिश्र ने भी इस दौर में अपनी कहानियों में प्रयोग किए जिनमें प्रमुख है – कहानी में पात्रों का नामोल्लेख न करना। उन्होंने अपनी कहानी 'चुगलखोर' में कहानी के पात्रों को अंकों से इंगित किया है।

विजय मोहन सिंह की पहली कहानी 'एक छोटे बच्चे का हाथ'– 1960 में ज्ञानोदय में छपी। साठोत्तरी कहानी को नई कहानी से अलगाने के मुहिम में विजय मोहन सिंह अगुवा रहे हैं। उनकी कहानी 'टट्टू सवार' प्रतीकात्मक कहानी है जिसमें आधुनिकता के छद्म मुखौटे को नोच कर उतार दिया गया है।

गंगा प्रसाद विमल 'अकहानी' आंदोलन के अगुवा रहे हैं जिनके अनुसार यह आंदोलन नहीं बल्कि एक दृष्टि थी जो कहानी विधा के स्वीकृत मानदंडों को अस्वीकार करती है। कथा का रचना–विधान ही अलगाव का प्रमुख आधार बना। यह आंदोलन या दृष्टि फ्रांस के एंटी–नोवेल और एंटी स्टोरी की तर्ज पर चलाया गया जिसमें एलन राब्ब ग्रिए और नताली सारात ने फ्रांस के परंपरागत कहानी रचना विधान का निषेध किया। इसी कारण विमल कहानी में 'भारतीयता' की अवधारणा को भी नहीं मानते। वे साठ के दशक की कहानियों को परंपरागत भारतीय कहानियों (पंचतंत्र आदि) से जोड़कर देखना गलत मानते हैं। फैंटेसी और अर्मूतन गंगा प्रसाद विमल की कहानियों की विशेषता है। कई बार कहानी कहने में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए इसका इस्तेमाल किया गया है। अकहानी के कहानीकार बिम्ब निर्माण और प्रतीक विधान का भी तिरस्कार करते हैं और

इस प्रकार 'साठोत्तरी कहानी' से अलग अपनी पहचान बनाते हैं। गंगा प्रसाद विमल की कहानियों में कथा तत्व न के बराबर है। घटनाएँ और ब्योरे कम से कम हैं। अकहानी का शिल्प ही विवेच्य है, क्योंकि कथा इसमें है नहीं और पात्र ठंडे और किताबी। विमल की सभी कहानियाँ एक जैसी हैं, नाम अलग–अलग हैं, 'कोई शुरूआत', 'नाटक अधूरा', 'झूठ', 'विध्वंस' आदि जिसमें परिस्थितियाँ और परिवेश नकली और अस्वाभाविक हैं। 'अभिशाप' का 'मैं' नाई के पास जाता है और नाई की दूकान में भीड़ होने के कारण पास की एक चाय की दूकान में बैठ जाता है। उसे लगता है कोई उसके पास बैठा है। जब वह नाई की दूाकन पर जाता है तो वहाँ शीशे में उसे अपना चेहरा विकृत लगता है। कभी किसी भयावह चेहरे का भ्रम होता है। कभी नाई की कैंची गायब हो जाती है, कभी कंधी, कभी उस्तरा। वह आतंकित हो जाता है, उसकी मुट्ठी भिंच जाती है और वह सोचता है कि यदि घर पहुँचने पर भी इसकी मुट्ठी न खुली तो वह ताला कैसे खोलेगा। कहानियो में 'मैं' ही प्रोटगोनिस्ट या मुख्य पात्र होता है और वह अपने ज़रिए कथा कहता है। विमल अपनी कहानियों में चौंकाने वाली परिस्थितियाँ पैदा करते हैं।

19.6 सारांश

निष्कर्ष यह कि नई कहानी और साठोत्तरी कहानी कुछ नया करने के उद्देश्य से आगे बढ़ी क्योंकि इसके नायक अपनी बात अपने अंदाज़ में कहना चाहते थे। नई कहानी हो या, साठोत्तरी कहानी, समानांतर कहानी हो या अकहानी किसी को एक लीक पर नहीं हाँका जा सकता। पुराने का अस्वीकार और नया कुछ करने की तमन्ना, हर युग की दास्तां रही है। यही नई कहानी साठोत्तरी कहानी की भी कहानी है, जैसा कि आपने अभी–अभी पढ़ा।

गौर करें और सामान्यीकरण करने की चाहत हो तो रेखांकित कर सकते/सकती हैं कि इस दौर की कहानियाँ महानगरीय परिवेश और स्त्री–पुरुष संबंध की परंपरागत नैतिकताओं, मूल्य और वर्जनाओं को अस्वीकार करने का रूख करती हैं। जिस प्रकार नई कहानी में एकरूपता या भेड़चाल नहीं दिखाई देती उसी प्रकार साठोत्तरी कहानी में अलग–अलग तेवर की कहानियां लिखी गईं। पर इस दौर के एक प्रमुख कथाकार ज्ञानरंजन को देखें तो साठोत्तरी कहानी के प्राण होते हुए भी वे दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, राजकमल चौधरी, गंगा प्रसाद विमल से अलग खड़े दिखाई देते हैं। वे परिवार के लेखक हैं, परिवार में होने वाले बदलावों को वे सूक्ष्मता और तीव्रता से आलोकित– अवलोकित करते हैं। पुराने के प्रति विरोध और विद्रोह इनकी कहानियों में है पर परिवार का एक ढाँचा भी है जिसे भारतीय ढाँचा कह सकते हैं। पर बाकी कहानीकारों में तो यह ढाँचा है ही नहीं। उनकी कहानियाँ परिवार के सीने पर पैर रखकर आगे बढ़ती हैं और स्त्री–पुरुष संबंधों की तमाम वर्जनाओं से मुक्त करती है। सेक्स, सिगरेट और शराब का चित्रण भी इस दौर की कहानियों में जितना हुआ है उतना पहले हुआ है उतना पहले है न बाद में। इस दौर के कहानीकारों ने समाज के एक चुटकी भर तबके के यथार्थ को पहचानने, तलाशने और परोसने पर अपना ध्यान केंद्रित किया है जो 'भारत' का नहीं किसी बिगड़ैल समाज का चित्रण है। दिल्ली में 25 वर्ष रहने के बाद भी इस समाज से मैं 'रू–ब–रू' नहीं हो सका जिसमें सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत संबंधों की सारी नैतिकताएँ ध्वस्त हो जाती हों।

कुछ प्रश्न और प्रसंग ऐसे जरूर उठाए गए हैं जो सामने दिखते नहीं और अब तक कथाकार उससे बचते रहे थे जैसे परिवारों में 'अनैतिक' संबंध। जैसे राजकमल चौधरी

की एक कहानी में ससुर और बहू के बीच दैहिक संबंध स्थापित होता है। रवीन्द्र कालिया की कहानियों में पर स्त्री–पुरुष संबंध का चित्रण सहज जीवन के रूप में आता है, मानो यह हमारे जीवन, हमारी संस्कृति, का हिस्सा हो। कहानी लिखे जाने के 50 साल के बाद भी क्या हम इस 'सहज' संबंध को सहजता से स्वीकार कर पाए हैं! सवाल जवाब आप खुद अपने से कर लें।

साठोत्तरी कहानी का सारा तामझाम उसके शिल्प को लेकर है (ज्ञानरंजन को छोड़कर)। ज्ञानरंजन कथा को कथा की तरह कहते हैं; सही है कि उनका नायक 'मैं' होता है और शैली संस्मरणात्मक रहती है। पर इससे कथा बाधित नहीं होती। पर ज्यादातर कहानीकारों ने कहने को संक्षिप्त करने का प्रयास किया; इसके लिए जटिल प्रतीकों का प्रयोग किया और बहुत कुछ पाठकों के भरोसे छोड़ दिया। रीछ (दूधनाथ सिंह), काला रजिस्टर (रवीन्द्र कालिया), लोग बिस्तरों पर (काशीनाथ सिंह), पत्थर के नीचे दबे हुए हाथ (राजकमल चौधरी), जैसी कहानियाँ इस दौर की पहचान बनती हैं। इनके अलावा, रमेश उपाध्याय, महेंद्र भल्ला, जगदीश चतुर्वेदी, महीप सिंह भी इस दौर के प्रमुख कहानीकार हैं। महीप सिंह 'समानांतर कहानी' के नाम से एक कथांदोलन के प्रणेता हैं।

साठ के बाद केवल यही कहानीकार कहानी नहीं लिख रहे थे बल्कि 'नई कहानी' दौर के कहानीकार भी इस समय अच्छी कहानियाँ लिख रहे/रही थीं, जिनमें मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, भीष्म साहनी, अमरकांत, मार्कंडेय, शेखर जोशी, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा भी कहानियाँ लिख रहे थे और इस दशक में भी इनकी कई महत्वपूर्ण रचनाएँ सामने आईं।

ये ठीक है कि नई कहानी की तर्ज पर कहानी ने लिखने का ज़ोर साठोत्तरी कहानीकारों का रहा और नई कहानी से इसे अलगाने का भी प्रयास किया; खासतौर पर अकहानी के नाम से; पर इससे कुछ हासिल नहीं हुआ। कहानी वही टिकी जिसमें कथा थी और जो हमारे समाज के सच को बेपर्द करने की ताकत रखती थी। बेपदर्गी इस दशक की कहानियों की पहचान बनी जिसमें आदिम प्रवृत्तियों को बेहिचक उघाड़ा गया पर कलात्मक ढंग से, सृजनशीलता के साथ। जिन कहानियों ने ऐसा किया उसका नाम इतिहास में दर्ज हुआ। केवल फुलझड़ी छोड़ने वाली कृतियाँ अपनी ही राख में पैबस्त हो गईं।

अभ्यास

1. नई कहानी की प्रमुख विशेषताओं पर विचार कीजिए।
2. साठोत्तरी कहानी की प्रमुख विशेषताओं को उद्घाटित कीजिए।
3. 'नई कहानी' और 'साठोत्तरी कहानी' का मूल अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. कहानी कहने की दिशा में नई कहानी और साठोत्तरी कहानी में क्या प्रयोग हुए? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

इकाई 20 समकालीन हिन्दी कहानी

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 समकालीन हिन्दी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

20.3 समकालीन हिन्दी कहानी : अर्थ, इतिहास और संरचना

20.3.1 अर्थ, इतिहास और स्वरूप

20.3.2 आलोचना, विचारधारा और प्रमुख कहानियाँ

20.4 समकालीन हिन्दी कहानी : प्रवृत्तियाँ, समाज और प्रक्रियाएँ

20.4.1 लोकतंत्रीय व्यवस्था में आम आदमी और मध्यवर्ग

20.4.2 कृषक–मजदूर समाज

20.4.3 स्त्री–समाज

20.4.4 दलित समाज

20.4.5 आदिवासी एवं हाशिये के अन्य समाज

20.4.6 अप्रवासी समाज

20.4.7 अल्पसंख्यक समाज

20.4.8 भूमंडलीकरण, बाजारवाद और नयी सदी का भारतीय समाज

20.5 समकालीन हिन्दी कहानी : कला, भाषा और ज़िन्दगी का यथार्थ

20.6 सारांश

अभ्यास

20.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से संबंधित माडयूल के पाठ्यक्रम ' कहानी : स्वरूप और विकास' से संबंधित 'हिन्दी साहित्य में कहानी', खण्ड – पाँच की आखिरी इकाई है। इस इकाई में आप नई कहानी और साठोत्तरी कहानी के बाद की हिन्दी कहानी का अध्ययन करेंगे जिसे हम 'समकालीन हिन्दी कहानी' के रूप में जानते हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नई कहानी एवं साठोत्तरी कहानी के बाद की हिन्दी कहानी – 'समकालीन हिन्दी कहानी' का अर्थ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और इतिहास को समझ पायेंगे/पायेंगी।
- समकालीन हिन्दी कहानी की आलोचना, विचारधारा और प्रमुख कहानियों से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी,
- समकालीन हिन्दी कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियों को जान पायेंगे/पायेंगी,
- समकालीन हिन्दी कहानी के केंद्र में आये स्त्री, दलित एवं हाशिये के अन्य समाज के महत्त्व को समझ सकेंगे/सकेंगी,

- समकालीन समाज, राजनीति, अर्थ (आर्थिक) एवं अन्य क्षेत्रों में हो रहे संघर्ष तथा परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी,
- समकालीन कहानी की भाषा, कला और ज़िंदगी के यथार्थ के साथ उसके संबंध को गहराई से समझ सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

साहित्य के इतिहास में कहानी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आलोचना और विचारधारा की दुनिया के लोगों ने इसे जीवन को समझने की कला और विधा के रूप में लिया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद और रूस के महत्त्वपूर्ण लेखक मैक्सिम गोर्की भी कहानी को मानव–जीवन का अभिन्न अंग मानते थे। इसलिए जब भी साहित्य के इतिहास पर विचार होता है, उसमें कहानी और उसके इतिहास एवं उसमें अभिव्यक्त मानव–जीवन के यथार्थ को बुनियादी तौर पर अलग से समझने की कोशिशें होती रही हैं; चाहे वह प्रेमचंद–युगीन कहानी का मसला हो अथवा नयी कहानी या समकालीन कहानी का। साहित्य भी अन्य–विधाओं के समानांतर कहानी में मनुष्य के मन एवं समाज में उसकी उपस्थिति का कलात्मक आख्यान देखने को मिलता है। यह आख्यान इतना आकर्षक होता है कि बच्चे से लेकर बूढ़े तक उसमें दिलचस्पी लेते दिखाई पड़ते हैं। इसलिए साहित्यिक विधाओं के किसी विशेष कालखण्ड का वस्तुपरक अध्ययन हमें यह अवसर प्रदान करता है कि रचनाओं अथवा कहानी में व्यक्त जीवन और समाज के साथ उसका यथार्थ संबंध को हम समकालीन संदर्भों में किस रूप में देखें तथा विचार करें। उनमें मनुष्य–मात्र के लिए निर्मित स्थान की खोज करें। कथा–साहित्य के इतिहास में समकालीन कहानी का अध्ययन भी हमें इसी प्रकार का अवसर प्रदान करता है।

दरअसल रचना और विचारधारा की दुनिया में कथा–कहानी का जो शास्त्र है उसका गहरा संबंध कहानी कहने, कथा के चुनने और कहने के समय से है। समकालीन हिन्दी कहानी पर विचार करते हुए यह बात साफ होती है कि इस दौर के कहानीकारों ने समकालीन समय, समाज–परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए कहानी की दुनिया रची है। इसीलिए इस दौर के कहानियों की जो दुनिया है, वहाँ कहानी के रचने अथवा सर्जनात्मकता की ये प्रक्रियाएँ इतनी जटिल और विविधतापूर्ण हैं कि उन पर विचार एवं उनका आकलन करना अत्यंत दुःसाध्यपूर्ण कार्य है। इसीलिए मैक्सिम गोर्की सृजनात्मकता के इतिहास को मानव इतिहास से कहीं अधिक दिलचस्प और महत्वपूर्ण मानते थे। कारण, मानव–इतिहास को समझने के लिए बहुत सारे तथ्यात्मक संदर्भ होते हैं परंतु सृजनात्मकता का जो इतिहास है वह लेखक–कलाकार की जिन्दगी, उसके जाने–अनजाने परिवेशों, प्रसंगों, अनुभवों एवं विचारों के कई ऐसे पक्षों से निर्धारित और नियंत्रित होता है जिसे समझने के लिए सृजन की उदात्तता तक पहुँचना पड़ता है। यह यात्रा रोचक होने के साथ–साथ अत्यंत जटिल भी होती है। उदाहरण के लिए, समकालीन हिन्दी कहानी, सिर्फ वस्तु और कला की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि यहाँ इतिहास, सामाजिक विमर्श, वैचारिकताओं की टकराहट, राजनीतिक संघर्ष, अनुभव आदि की ऐसी अनेक निर्मितियाँ दिखलाई पड़ती है जिसे मात्र पारंपरिक तरीके से नहीं समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान आदि की समझ के साथ–साथ मानव–स्वभाव के सर्जनात्मक पक्ष की समझ होनी भी जरूरी है। कारण, समकालीन हिन्दी कहानी की

दुनिया में इतनी तरह की विविधताएँ हैं कि पाठकों का जब उनसे सामना होता है, तब वे तय नहीं कर पाते हैं कि वे कोई कहानी पढ़ रहे हैं अथवा सामाजिक–संघर्षों में स्त्री और दलित–जीवन का इतिहास देख रहे हैं; सामाजिक–राजनीतिक परिवर्त्तन एवं विकास की बारीकियों से गुजर रहे हैं या अर्थशास्त्र अथवा बाजारवाद के व्यावहारिक पक्ष की जानकारी प्राप्त कर रहे हैं। इसी प्रकार भूमण्डलीकरण की कई ऐसी प्रक्रियाएँ है, जो इधर के नये कहानीकारों में साफ–साफ दिखलाई देती है। यहाँ इन्टरनेट की दुनिया से लेकर एक सुविधाभोगी भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नव–निर्मित उत्पादनों की भरमार है जिसमें आज की जिन्दगी के यथार्थ को एक नये ढंग से रचा जा रहा है और मनुष्य है कि उसके मायाजाल से निकल हीं नहीं पा रहा है। उदाहरण के लिए, पंकज बिष्ट ने 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते', उदय प्रकाश ने 'तिरिछ', संजीव ने 'अपराध', चित्रा मुद्‌गल ने 'लकड़बग्घा', प्रेमकुमार मणि ने 'खोज', ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम', अखिलेश ने 'चिट्‌ठी', संजय खाती ने 'पिंटी का साबुन' और अवधेश प्रीत ने 'नृशंस' में समकालीन समय, समाज, राजनीति के यथार्थ तथा बाजारवाद के मायाजाल में फंसे मनुष्य एवं उसके अंतर्मन की बेचैनी, भय, अंतर्द्वद्व आदि का प्रभावशाली चित्रण अपनी कहानियों में किया है। खास बात यह है कि परिवर्तन और नये विकास की इन प्रक्रियाओं को सन् सत्तर के बाद से लेकर आज तक के कहानीकारों ने एक नयी भाषा और कलात्मक यथार्थ के साथ गढ़ा है।

वस्तुतः साहित्य एवं समाज के बीच की यह वही सन्धि बेला है जिसे समकालीन साहित्य अथवा कहानी का अध्ययन करते हुए समझा जा सकता है। यद्यपि कहानी के समानान्तर साहित्य की अन्य विधाओं में भी समकालीन समाज की सोच और समय की उपस्थिति दिखलाई पड़ती है चाहे वह उपन्यास हो या कविता; परंतु समकालीन कहानी में समकालीन समाज की जिन्दगी तथा सोच में आये परिवर्तनों का जितना यथार्थ दिखलाई पड़ता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कारण, आज की कहानी में कला भी है और समाज की समझ भी; ज़िंदगी के यथार्थ से जुड़ी सर्जनात्मक भाषा भी है और उसे अन्य वृहत्तर सामाजिक समुदायों के साथ जोड़कर सार्वजनिक चरित्रों के निर्माण की क्षमता भी। कहा जा सकता है कि सन् 1947 में स्वाधीनता के बाद सामाजिक परिवर्तन एवं विकास का जो दौर शुरू हुआ तथा उसमें जो संक्रमणकालीन स्थितियाँ बनी, उसे समझने में समकालीन कहानी ने एक हद तक मदद की। इस दौरान, खासकर 1967 के नक्सलबाड़ी की घटना के बाद भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अन्दर और बाहर के जिन सार्वजनिक चरित्रों का नायकत्व के स्तर पर हिन्दी के कहानीकारों ने निर्माण किया, उसे समकालीन कहानी में साफ–साफ देखा जा सकता है चाहे वे स्त्री–चरित्र हो अथवा दलित, किसान अथवा मजदूर। एक खास परिस्थितियों में उभरकर आये इन चरित्रों ने समकालीन कहानी को नयी कहानी एवं साठोत्तरी कहानी के तथाकथित मध्यवर्गीय चरित्रों बौद्धिकता, सांकेतिकता के साथ ही पात्रों को निष्क्रियतापन (सचेतन कहानी) तथा किसी भी प्रकार के मूल्य की स्थापना की प्रक्रिया (अचेतन) से बाहर निकाला और रचना तथा विचार की दुनिया में यथार्थ और आम आदमी के महत्त्व को स्थापित किया। यद्यपि यह आम आदमी समकालीन सत्ता के आतंक और दबाव से मुक्त नहीं था, परन्तु 1967 के बाद खास बात यह हुई कि यह समकालीन संगठनों और विचारों से जुड़कर अत्यंत ताकतवार हो उठा; और अब स्थिति यह है कि वह अपनी गतिशीलता से समकालीन दुनिया और उसकी निर्मितियों (जैसे– वर्ण एवं जाति केंद्रित सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्लीकरण की प्रक्रियाएँ आदि) को प्रभावित कर रहा है।

20.2 समकालीन हिंदी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सवाल है, समकालीन कहानी की दुनिया में आये ये आम चरित्र जो सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर हाशिये पर थे, अचानक केंद्र में कैसे आ गये ? कारण क्या थे ? यह सब अचानक हुआ अथवा इसके पीछे कुछ सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही थी ? इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए हमें थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा कि आखिर क्यों सन '70 के बाद की हिन्दी कहानी में अचानक स्त्री, दलित आदि जैसे हाशिये के अनेक ऐसे सार्वजनिक चरित्रों की प्रभावशाली उपस्थिति दिखलाई पड़ती है जो पहले नहीं थी। यद्यपि प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेंद्र, शिवपूजन सहाय आदि की कहानियों में भी स्त्री और दलित पात्र (मजदूर) हैं तथा साठोत्तरी कहानी में ज्ञानरंजन, रामकुमार, भीष्म साहनी, दूधनाथ सिंह, रमेश बक्षी, काशीनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, सतीश जमाली, अशोक सेक्सरिया, विजयमोहन सिंह, इब्राहिम शरीफ, गंगा प्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, कृष्णा सोबती, रवींद्र कालिया, कृष्ण बलदेव वैद, काशीनाथ सिंह, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, शैलेश मटियानी, बदीउज्ज़मा, से. रा. यात्री, ममता कालिया, इसराइल, राजी सेठ, रमेश बक्षी, मधुकर सिंह, आदि की कहानियों में भी ये एवं हाशिये के अन्य समाज उपस्थित हैं; लेकिन समकालीन हिन्दी कहानी में आये मजदूर, किसान स्त्री और दलित जैसे आम पात्र उनसे भिन्न इस अर्थ में है कि वह 'सद्गति' के दुःखी चमार की तरह असहाय नहीं है; बल्कि विजेंद्र अनिल के 'विस्फोट' के कवलेसर और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' के हरीश की तरह सामंती और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ सीना तानकर खड़े हैं। ये भारतीय परंपरा में पवित्र और महान समझे जानेवाले संकेतों तथा शोषणवादी व्यवस्था को मानने से इन्कार कर देते हैं जिसे नई कहानी तक में आये दलितपात्र भी अस्वीकार करने का साहस नहीं कर पाते थे तथा अपने समाज के वर्चस्ववादी ताकत के दबाव को चुपचाप सहने के लिए बाध्य थे। लेकिन सन् 70 तक आते–आते ऐसा नही रह गया। नक्सलबाड़ी सहित अन्य जन–आंदोलनों ने उन्हें यह साहस प्रदान किया कि शोषण एवं दमनकारी व्यवस्था का प्रतिरोध कर सकें। कमलेश्वर ने 'सारिका' के अक्टूबर 1974 ई अंक में कहानी में आये इस प्रकार के आम आदमी की चर्चा करते हुए लिखा है कि ''यह पूरा देश अब एक भयंकर दलदल बन चुका है और इसे दलदल बनाने वाले लोग प्राचीरों–परकोटों पर जाकर बैठ गए हैं और दलदल में फंसते, दम तोड़ते आम आदमी के मरण उत्सव मना रहे हैं...'' फिर उपाय क्या है ? कमलेश्वर ने इसी संपादकीय में लिखा है कि ''इतिहास जब नंगा हो जाता है तो संपूर्ण संघर्ष के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह जाता... ।'' यहाँ तक कि कमलेश्वर ने 4 मार्च 1977 से शुरुआत की जिसमें 'आम आदमी : जिंदा सवाल' को बहस के केंद्र में खड़ा किया। कामतानाथ, इब्राहिम शरीफ, रमेश उपाध्याय, जितेंद्र भाटिया, सुधा अरोड़ा, मधुकर सिंह, मिथिलेश्वर, निरूपमा सेवती आदि कहानीकारों ने इस दौरान आम आदमी की जिंदगी के यथार्थ से जुड़ी अनेक कहानियां लिखी। यद्यपि शैलेश मटियानी एवं रामदरश मिश्र ने समानांतर कहानी आंदोलन का समर्थन नहीं किया, परंतु इसने समकालीन कहानी की पहचान बनाने में मदद की, नये कहानीकार को गतिशील समाज से जोड़ा।

दरअसल समकालीन हिन्दी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए समकालीन कहानी की उन प्रवृत्तियों पर भी गौर करना पड़ेगा, जो सामाजिक एवं पारिवारिक कहानियों से भिन्न है। उदाहरण के लिए, अगर हम विचार करें तो समकालीन हिन्दी कहानी में जिन विषयों को केन्द्र में रखकर कहानियाँ लिखी गई है, इनमें कृषि संबंधी संघर्ष, स्त्री–समाज, दलित–समाज, आदिवासी एवं हाशिये के अन्य समाज,

सांप्रदायिकता एवं अल्पसंख्यक समाज, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के कारण उभरता नया भारतीय समाज आदि प्रमुख है। 1947 ई. में देश आजाद हुआ, लेकिन आजादी के बाद जिस बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए, उसने हमारी सदियों से चली आ रही साझी संस्कृति और जातीय विरासत को ध्वस्त कर दिया। रही सही कसर 1992 ई. में बाबरी मस्जिद के ध्वंस ने पूरी कर दी। इन सबका गहरा असर रचना और विचार की दुनिया पर भी पड़ा और हिन्दी कहानी में स्वयंप्रकाश, पंकज बिष्ट, उदयप्रकाश, शिवमूर्ति, गीतांजलिश्री, अवधेश प्रीत, हृशिकेष सुलभ आदि ने सांप्रदायिकता से जुड़ी विचारशील कहानियाँ लिखी। कहा जा सकता है कि यदि 1992 में बाबरी मस्जिद की घटना नहीं हुई होती और सन् 47 का विभाजन नहीं होता तो शायद ही हिन्दी में 'पार्टीशन' (स्वयं प्रकाश), 'और अंत में प्रार्थना' (उदय प्रकाश), और 'बशारत मंजिल' (अवधेश प्रीत), जैसी कहानियाँ लिखी जाती।

इसी प्रकार, 1956 ई. में अंबेडकर द्वारा हिन्दू धर्म छोड़कर अपने समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म में प्रवेश करने की घटना एवं 1967 ई. में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में जमींदारों और किसानों–मजदूरों के साथ हुए संघर्षों ने भारतीय समाज, राजनीति और गाँव की जिन्दगी पर गहरा असर डाला। इन संघर्षों एवं घटनाओं ने भारतीय समाज की वर्ण तथा जाति केंद्रित व्यवस्था को झकझोर कर रख दिया। सातवें दशक में गाँवों में बड़े पैमाने पर कृषि संबंधी संघर्ष हुए जिसके केंद्र में दलित, सीमांत किसान और मजदूर थे। इन सामाजिक वर्गों तथा समुदायों ने शोषण और दमनकारी व्यवस्था के मनमानेपन और असमानता के खिलाफ जो आंदोलन छेड़ा उससे कहानी की दशा और दिशा पर भी गहरा असर पड़ा। परिणामतः किसानों और मजदूरों को लेकर जहाँ विजेंद्र अनिल, मधुकर सिंह, विजयकान्त, इब्राहिम शरीफ, रमेश उपाध्याय, इसराइल, हृदयेश, सतीश जमाली, शैवाल, हृषिकेश सुलभ, अरूण प्रकाश, संजीव, महेश कटारे, सुरेश कांटक, सृंजय, मिथिलेश्वर, मदन मोहन, चंद्रकिशोर जायसवाल आदि ने संघर्षशील हाशिए के लोगों की कहानियाँ लिखी; वहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला टाकभौरे, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, शत्रुध्न कुमार, रत्नकुमार सांभरिया, बुद्धशरण हंस, दयानन्द बटोही, सूरजपाल चौहान, प्रहलाद चन्द दास, एस.आर. हरनोट, देव नारायण पासवान आदि ने दलित जीवन की कहानियों के माध्यम से वर्ण एवं जाति के कारण शोषित दलित समाज के उत्पीड़न को गहरे आक्रोश के साथ व्यक्त किया।

वस्तुतः समकालीन कहानी के रचना–विधान में 1956 के बाद अंबेडकर के प्रभाव में हुए दलित आंदोलन, 1967 के नक्सलबाड़ी के संघर्ष, 1992 के सांप्रदायिक उन्माद, भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण सहित मेधा पाटकर जैसे कर्यकर्ताओं द्वारा चलाये जा रहे जन–आंदोलनों की निर्णायक भूमिका रही है। बदलाव के स्तर पर देखें तो किसानों–मजदूरों के संघर्ष और दलित समाज के प्रतिरोध ने उस पारंपरिक और ऐतिहासिक सत्ता (ब्राह्मणवादी–सामन्तवादी) पर गहरी चोट की जिसे हमारा समाज सदियों से चलाये जा रहा था। दलित समाज का ब्राह्मणवाद (जिसे मनुवाद भी कहा जाता है) के खिलाफ प्रतिरोध और सीमांत कृषक–मजदूर समाज का सामन्तवाद के खिलाफ हुए संघर्ष ने सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अन्दर और बाहर हाशिये की ज़िन्दगी व्यतीत कर रहे सामाजिक समुदायों के अन्दर एक स्वाभिमान का भाव जगाया। इस बीच देश में प्रगतिशील आंदोलनों से जुड़ी मीरा सावदा, सुजाता घोटोस्कर, इला भट्ट, मेधा पाटकर, मृणाल गोरे जैसे स्त्री आंदोलनकारियों एवं सेवा, प्रगतिशील महिला संगठन (हैदराबाद), पुरोगामी स्त्री संगठन (पुणे), स्त्री मुक्ति संगठन (मुंबई), दलित स्त्रियों का महिला समता सैनिक दल, स्त्री शक्ति संगठन (हैदराबाद) जैसे स्त्रीवादी संगठनों के प्रभाव में स्त्रियों

के अन्दर एक नयी प्रकार की चेतना का उदय हुआ तथा सामाजिक–आर्थिक असमानता एवं पितृसत्ता के खिलाफ धरने और प्रदर्शन हुए। साहित्य की दुनिया भी उससे प्रभावित हुई। 1967 में कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' का प्रकाशन और उसके बाद मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' (उपन्यास) एवं मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' (उपन्यास) के प्रकाशन ने पितृसत्ता और उसके द्वारा स्त्रियों के लिए निर्मित नैतिकता के बन्धन पर कठोर हमले किये जिसका असर बाद में सुधा अरोड़ा, मृणाल पाण्डेय, चित्रा मुद्‌गल, मंजुल भगत, कमल कुमार, नासिरा शर्मा, अर्चना वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता, अनामिका, कात्यायनी, गीतांजलि श्री, सविता सिंह, अलका सरावगी, कौशल्या बैसंत्री, जया जादवानी, सुशीला टाकभौरे, उर्मिला शिरीष आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। यद्यपि 1992 के बाद शुरू हुए आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में विज्ञापनों में 'स्त्रियों' की भूमिकाओं को लेकर एक नये प्रकार की बहस हुई, लेकिन खास बात यह हुई कि इस प्रक्रिया ने एक तरफ जहाँ आर्थिक स्तर पर स्त्रियों के स्वावलंबन के नये द्वारा खोलें; वहीं दूसरी तरफ शोषण और उत्पीड़न का एक नया तंत्र भी खड़ा किया। प्रभा खेतान, मधु कांकरिया, चित्रा मुद्‌गल ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में इन सवालों को गंभीरता के साथ उठाया।

इसी प्रकार सेज (Special Economic Zone) एवं विश्व–ग्राम से जुड़े नये आर्थिक विकास के नाम पर किसानों और आदिवासियों की जमीनों का अधिग्रहण किया गया जिसने संक्रमणकालीन समाज को एक नये तरह के संघर्ष के लिए मानसिक तौर पर तैयार होने में मदद की। मेधा पाटकर द्वारा आदिवासियों एवं वंचित समूहों के लिये किये गये आंदोलनों ने भी रचना और विचार की दुनिया को प्रभावित किया। वीरेंद्र जैन, संजीव, मनमोहन पाठक, भालचंद्र जोशी, कैलाश वनवासी, पीटर पॉल एक्का, निर्मला पुतुल, हरिराम मीणा आदि की रचनाओं में आदिवासी समाज के विस्थापन से जुड़े सवालों को देखा जा सकता है।

दरअसल मार्शल मैक्लूहान द्वारा तकनीक और संचार क्रांति के आधार पर परिकल्पित मौजूदा 'विश्व ग्राम' (Global Village) की धारणा ने सैटेलाइट संसार द्वारा पूरी धरती को एक गाँव में बदल देने की भविष्यवाणी ने लोगों को आकर्षित किया। कुछ ने इसे नयी सदी का विकास एवं निर्माण कहा; जहाँ इन्टरनेट से लेकर सत्ता के दबाव से मुक्त बाजार एक 'ग्लैमर दुनिया' की रचना में संलग्न है, तो कुछ प्रगतिशील विचारकों ने इसे उत्तर आधुनिक समय का सबसे बड़ा छलावा बताया। पर महत्वपूर्ण बात यह है कि इसने समकालीन कथा साहित्य को एक नयी जमीन प्रदान की। पंकज बिष्ट, उदय प्रकाश, नासिरा शर्मा, प्रेमकुमार मणि, अखिलेश, हरि भटनागर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, संजय खाती, रणेन्द्र, प्रदीप सौरभ, पंकज सुबीर, जया जादवानी आदि की रचनाओं में नई सदी के इस समय की बेचैनी; अर्न्तद्वंद्व, उत्साह, पीड़ा, भय आदि के भावों का प्रभावशाली चित्रण देखा जा सकता है। इनसे जुड़े सवालों पर समकालीन कथाकारों ने गहराई के साथ विचार किया है और उन्हें विचार तथा बहस का विषय भी बनाया है।

20.3 समकालीन हिन्दी कहानी : अर्थ, इतिहास और संरचना

वास्तव में समकालीन हिन्दी कहानी का जो अर्थ, इतिहास और संरचना है, वह अनेक तरह के अनुभवों, विचारों और जन–आंदोलनों से निर्मित एक समकालीन यथार्थ है। जिस तरह से प्रेमचंद युगीन कहानी को समझने के लिए गाँधी के स्वाधीनता आन्दोलन के साथ–साथ भगत सिंह के क्रांतिकारी एवं अंबेडकर के दलित आन्दोलन को एक विशेष

कालखण्ड में निर्मित रचनात्मक यथार्थ के रूप में समझना जरूरी है; ठीक उसी प्रकार समकालीन कहानी को भी समझने के लिए एक विशेष कालखण्ड में निर्मित यथार्थ और उसके प्रमुख कारकों भी समझना जरूरी है। उदाहरण के लिए, सन् साठ के बाद के स्त्री आंदोलन, अंबेडकर के प्रभाव में महाराष्ट्र सहित देश के अनेक हिस्सों में शुरू हुए दलित आंदोलन, 1967 का नक्सलवाद, 1990 के बाद आर्थिक उदारीकरण, भूमंडलीकरण, बाबरी मस्जिद के ध्वंस आदि संदर्भ समकालीन हिंदी कहानी की संरचना को गढ़ते हैं। आगे, हम इन पर और इनके प्रभाव में निर्मित समकालीन कहानी की स्थितियों पर विचार करेंगे।

20.3.1 अर्थ, इतिहास और स्वरूप

समकालीन हिन्दी कहानी का अर्थ क्या है ? इसका इतिहास क्या है ? इसके स्वरूप को हम कैसे निर्धारित करेंगे ? कुछ विचारकों का कहना है कि 'समकालीन' सिर्फ एक शब्द है, जिसका अर्थ है – 'तत्कालीन' अथवा 'एक ही समय का भावबोध'। दूसरे शब्दों में, जब कोई व्यक्ति या दूसरे के समानांतर एक समान समय अथवा युग में मौजूद रहता है तब उसे समकालीन समझा जा सकता है। कुछ विचारक इससे एक 'आधुनिक विचार' भी मानते हैं। पश्चिमी विचार में इस शब्द का प्रयोग अथवा व्यवहार 17वीं सदी के मध्य में होना शुरू हुआ जिसका अर्थ होता था –– एक दूसरे के साथ और अल्पकालिक समय। कुछ इसे 'वर्तमान समय' के रूप में भी लेते हैं। कला और साहित्य की दुनिया में जब सर्जकों ने तत्कालीन या समसामयिक चीजों, घटनाओं अथवा 'व्यक्तियों' को कला और साहित्य का विषय बनाना शुरू किया, तब कहा गया कि उस कला या साहित्य में समकालीन समय की उपस्थिति दिखलाई पड़ रही है। उदाहरण के लिए, दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान कुछ फिल्मकारों ने समकालीन समय (जैसे––युद्ध के परिदृश्य/प्रभाव) को फिल्माया। जर्मनी और फ्रांस के बर्तोल्त ब्रेख्त, ग्यूंटर ग्रास, ज्यां पाल सार्त्र जैसे लेखकों ने युद्ध के प्रभाव को अपनी रचनाओं में संवेदनात्मक स्तर पर चित्रित किया। हिन्दी में सन् 70 के बाद जब कहानीकारों ने नक्सलवाद, इमरजेंसी, गरीबी, भूख, साम्प्रदायिकता, भूमंडलीकरण आदि जैसी सामने घट रही समकालीन स्थितियों को कहानी का विषय बनाना शुरू किया, तब आलोचकों ने कहा कि यह तो समसामयिक समाज एवं जीवन स्थितियों का चित्रण है। कहानी आलोचक मधुरेश ने भी कहानी में 'समकालीन' संदर्भ की चर्चा करते हुए लिखा है कि ''समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबाव को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रभावित करना।'' अर्थात 'समकालीन' का एक अर्थ यह भी है कि कलाकार या लेखक समय के दबाव का स्वयं गवाह होता है। यदि हम समकालीन कहानीकारों में स्वयं प्रकाश (पार्टीशन), पंकज बिष्ट (बच्चे गवाह नहीं हो सकते), उदय प्रकाश (तिरिछ, और अंत में प्रार्थना), संजीव (दुनिया की सबसे हसीन औरत) सृंजय (कामरेड का कोट), शिवमूर्ति (तिरिया चरित्तर), प्रेमकुमार मणि (खोज), शमोएल अहमद (सिंगारदान), चित्रा मुद्गल (लकड़बग्घा, ब्लेड), मृणाल पाण्डेय (लड़कियां), अखिलेश (चिट्ठी, बायोडाटा), अरूण प्रकाश (मैया एक्सप्रेस, जल प्रांतर), ओमप्रकाश वाल्मीकि (सलाम), सुशीला टाकभौरे (सीलिया), मिथिलेश्वर (मेघना का निर्णय), मुर्शरफ आलम जौकी (गुलामबख्श) एस.आर. हरनोट (जीन–काठी) चंद्रकिशोर जायसवाल (नकबेसर कागा ले भागा), जयप्रकाश कर्दम (नो बार), संजय खाती (पिंटी का साबुन), अवधेश प्रीत (नृशंस, लबरा), देवेंद्र (क्षमा करो हे वत्स) आदि की कहानियाँ देखें तो साफ पता चलता है कि इन कहानीकारों ने समकालीन समय के दबाव को महसूस करते हुए अपनी कहानियों में ज़िन्दगी के यथार्थ का गंभीर चित्रण किया है; चाहे वह राजनीति हो या समाज, धर्म (साम्प्रदायिकता) हो या

अर्थ (भूमंडलीकरण–उदारीकरण से संबंद्ध) अथवा हाशिये के समाज के मौलिक अधिकारों को लेकर चलाया जा रहा कोई जन–आन्दोलन।

दरअसल समकालीन कहानी का जो इतिहास और स्वरूप है, उसका गहरा सबंध समकालीन समय के यथार्थ से है। यद्यपि इस बात को लेकर बहस हो सकती है कि समकालीन कहानी की शुरुआत कब से मानी जाए। कारण, इसी से समकालीन कहानी का इतिहास भी तय होगा। कुछ लोग इसकी चर्चा '90 के मंडल कमीशन और उसके बाद बाबरी मस्जिद के ध्वंस, आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण से जोड़कर देखते हैं और इसीलिए समकालीन कहानी के इतिहास को 1990 से अब तक मानते हैं। कुछ इसे सन् '75 की इमरजेन्सी के बाद से मानते हैं जिसके समानान्तर कहानीकारों ने एक तरफ जहाँ राजनीतिक सत्ता के भय और आंतक को रचना का विषय बनाया, वहाँ दूसरी तरफ कमलेश्वर के सन् 74 के समानान्तर कहानी आन्दोलन एवं 1982 में दिल्ली में स्थापित 'जनवादी लेखक संघ' की स्थापना के बाद शुरू हुए 'जनवादी कहानी' से जोड़कर देखा है तथा रमेश उपाध्याय की 'देवी सिंह कौन' रमेश बतरा की 'कत्ल की रात', स्वयं प्रकाश की 'सूरज कब निकलेगा', नमिता सिंह की 'काले अन्धेरे की मौत', असगर वजाहत की 'मछलियाँ', उदय प्रकाश की 'टेपचू', अरुण प्रकाश की 'मैया एक्सप्रेस', धीरेन्द्र अस्थाना की 'लोग हाशिये पर', विजयकान्त की 'बलैत माखून भगत', राजेश जोशी की 'सोमवार' जैसी कहानियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण कहानियों के रूप में किया है।

पर, सही मायने में समकालीन कहानी की ज़मीन 1967 में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में चारू मजूमदार के नेतृत्त्व में शुरू हुए हाशिये के किसानों एवं मजदूरों के प्रतिरोध एवं उसके बाद हुए जन–आंदोलनों से तैयार होती है। कारण, 1967 के बाद कहानी में 'नयी कहानी' और उसके बाद चर्चा में आये सचेतन, अकहानी आदि का दौर समाप्त होता है तथा विचार और संवेदना के स्तर पर कहानी समकालीन जिन्दगी में आ रहे बदलावों को लेकर आगे बढ़ जाती है। यह इस दौर में शुरू हुए अन्य जन–आन्दोलनों (जैसे–महाराष्ट्र का दलित पैंथर, छात्रों द्वारा राजनीतिक बदलाव के लिए जयप्रकाश के नेतृत्त्व में किया गया संपूर्ण क्रांति का आन्दोलन, मेधा पाटकर द्वारा आदिवासियों के विस्थापन को लेकर किये जा रहे संघर्ष, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आर्थिक नीतियों के खिलाफ किसानों का प्रदर्शन आदि) से संवाद करते हुए अपना रास्ता तय करती है। यह इस प्रकार के आंदोलनों का ही प्रभाव था कि किसान, मजदूर, स्त्री, दलित आदिवासी जैसे हाशिये के लोग कहानी के केंद्र में आते हैं और हिंदी के पुराने कहानीकारों में भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, राजी सेठ, काशीनाथ सिंह, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, रमाकांत, मधुकर सिंह, हृदयेश आदि जैसे रचनाकार क्रमशः 'झूमर', 'अर्द्धांगिनी', 'सदी का सबसे बड़ा आदमी', 'नौरंगी बीमार है', 'माई का शोकगीत', 'कार्लो हब्शी का संदूक', 'हरिजन सेवक' और 'मनु' जैसी कहानियाँ लिखते हैं। इसीलिए समकालीन कहानी की शुरुआत 1967 के बाद से मानी जानी चाहिए तथा इसके पहले चरण को 1967 से 1990 और दूसरे चरण को 1990 से अब तक के रूप में देखा जाना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन कई बार अध्येत्ताओं के लिए चुनौती खड़ी करते हैं, परंतु समकालीन हिन्दी कहानी का जो परिदृश्य है, उसे वृहत्तर सामाजिक संदर्भो से जोड़कर देखने पर, इस प्रकार के अध्ययन रचना के बहाने समय और समाज को समझने में हमारी मदद ही करते हैं। जहाँ 1990 के पूर्व की कहानियों में किसान, मजदूर, स्त्री आदि समाज की प्रधानता है, वहाँ बाद की कहानियों में दलित, आदिवासी, साम्प्रदायिकता, भूमंडलीकरण आदि से जुड़े प्रश्न एक वृहत्तर दुनिया के यथार्थ को हमारे सामने रखते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह विचार करना जरूरी

है कि समकालीन कहानी की विचारधारा क्या है तथा आलोचकों ने किन कहानियों को ध्यान में रखकर उस पर विचार किया है ? इसी प्रकार, हमारे लिए इस पर विचार करना भी जरूरी है कि समकालीन कहानी की मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या है तथा उनके केंद्र में कौन–कौन से समाज है ? उनके अन्दर परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाएँ कैसी हैं जिसे कहानीकारों ने विचार का केंद्र बनाया है।

20.3.2 आलोचना, विचारधारा और प्रमुख कहानियाँ

समकालीन कहानी के आलोचकों में कई महत्त्वपूर्ण नाम है जिनमें विश्वनाथ त्रिपाठी, मधुरेश, विजय मोहन सिंह, गोपाल राय, चंचल चौहान, जानकी प्रसाद शर्मा, परमानंद श्रीवास्तव, प्रभाकर श्रोत्रिय, आनन्द प्रकाश, रामदेव शुक्ला, लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही', रविभूषण, महेश दर्पण, शंभु गुप्त, खगेन्द्र ठाकुर, अर्चना वर्मा, बलराम, कुमार कृष्ण, सुधीश पचौरी, रोहिणी अग्रवाल, चंद्रेश्वर कर्ण, देवेंद्र चौबे, प्रियम अंकित, कृष्ण मोहन, अजय वर्मा आदि प्रमुख है। इन आलोचकों ने समकालीन कहानी की संरचना, विचाारधारा और प्रवृतियों पर गंभीरता के साथ विचार किया हैं। अगर हम संरचना, विचाारधारा और प्रवृतियों के स्तर पर देखें, तो समकालीन कहानी को मुख्यतः पाँच तरह की स्थितियाँ प्रभावित करती हैं :

1. मार्क्सवाद के प्रभाव में हाशिये अथवा निम्नवर्गीय समाज को लेकर किये जा रहे विचार।
2. साम्प्रदायिकता संबंधी विचार, जैसे – 1947 के देश–विभाजन और 1992 के बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद उत्पन्न साम्प्रदायिक स्थितियाँ;
3. दलित–विमर्श
4. स्त्रीवाद अथवा स्त्री–विमर्श और
5. आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण से संबंधित विचार।

इन पर हम बाद में, अगले खण्ड में विस्तारपूर्वक बातचीत करेंगे। इनके अतिरिक्त जादुई यथार्थवाद और उत्तर आधुनिकतावाद भी समकालीन साहित्य को प्रभावित करने वाली विचारधाराएँ हैं, लेकिन कहानी में इनकी उपस्थिति नगण्य है। उदय प्रकाश की 'टेपचू' एवं पंकज बिष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' जैसी कहानियों को लेकर हिन्दी के कुछ आलोचक जरूर जादुई यथार्थवाद की चर्चा करते हैं। जैसे – 'टेपचू' का यह कथन कि ''जितने भी लोग टेपचू को जानते हैं वे यह मानते हैं कि टेपचू कभी मरेगा नहीं – साला जिन्न है।'' – जादुई यथार्थवाद की तरफ संकेत करता है। लेकिन, आलोचक चंचल चौहान 'टेपचू' में आये इस प्रसंग को यथार्थ से जोड़कर देखने का प्रस्ताव करते है : ''यह कहानी सिर्फ इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसमें जादुई यथार्थवाद की टेकनीक अपनाई गई है, बल्कि इसलिए कि इसमें यथार्थ को विकासमान प्रक्रिया के रूपमें देखा गया है।'' (समकालीन परिभाषा, सं. ऋषिकेश एवं राकेश रेणु, अंक 7–8, जुलाई–दिसम्बर 1991, पृ. 37)

स्पष्टतः यहाँ चंचल चौहान जादुई यथार्थवाद शब्दावली का प्रयोग तो करते हैं, परंतु उनका जोर उससे अधिक समाज के उस वास्तविक 'यथार्थ' पर है जो रचना को महत्वपूर्ण बनाता है।

इसी प्रकार, उत्तर आधुनिकतावाद की भी समकालीन कहानी में उपस्थिति नगण्य है। यद्यपि कहानी की दुनिया में 1967 के नक्सल आन्दोलन के बाद मुख्यधारा की बजाय हाशिये के नायकों की जो उपस्थिति हुई है उसे समझने में उत्तर आधुनिकता के एक प्रमुख विचारक जाक देरिदा के 'विखण्डनवाद' (De-construction) की धारणा मदद करती है जिसमें केंद्र और हाशिये का उल्लेख है। परंतु, वैचारिक स्तर पर इसकी उस अर्थ में कहानियों में उपस्थिति नहीं है। दलित कहानी के प्रसंग में इस पर बात हो सकती है जहाँ दलित कहानीकारों ने समाज के प्रभावशाली लोगों के बजाय सामाजिक व्यवस्था में अस्पृश्य समझे जाने वाले दलित लोगों को कहानी का ताकतवर नायक बनाया है; परंतु यहाँ भी वर्ण और जाति का सवाल प्रमुख है। आलोचक सुधीश पचौरी जैसे कुछ लोग उत्तर आधुनिकता और देरिदा के विखण्डनवाद को मार्क्सवाद के समानांतर रखते हैं और सन् 1970 के बाद के समय को उत्तर आधुनिक समय के रूप में देखते हैं। परंतु, हिन्दी के मशहूर कवि और साहित्यिक पत्रिका 'कृति ओर' के सम्पादक विजेंद्र 'समकालीन' (Contemporary) शब्द को 'उत्तर आधुनिक' (Post modern) शब्द के समकक्ष रखने की बात करते हुए लिखते हैं कि ''समकालीन होने के लिए ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग– संघर्ष और सर्वहारा की अजेय भूमिका को मानना पहली शर्त है, क्योंकि इसके बिना हम अपने समय के समाज की विकसित होने की गति को नहीं पहचान पायेंगे।'' (कृति ओर, अंक 40, अप्रैल–जून 2006)

अर्थात, सन् '70 के बाद के समय को 'उत्तर आधुनिक' कहने की जगह 'समकालीन' कहना ज्यादा ठीक है। कारण, उत्तर आधुनिकता के विचारक इतिहास को नकारने की प्रक्रिया में पुराने पूंजीवाद और वर्ग संघर्ष को एक साथ नकारते हैं। इसके एक प्रमुख विचारक फ्रेडरिक जेमसन ने चर्चित पुस्तक 'द पोस्टमार्डनिज्म : द कल्चरल लॉजिक आफ लेट कैपिटलिज्म' में इस बात की तरफ संकेत किया है कि जब समाज उत्तर आधुनिक युग और संस्कृति उत्तर आधुनिक समय में प्रवेश करती है, तब ज्ञान की अवस्था बदल जाती है। इस अवस्था की शुरुआत वह सन् '50 के दशक के अन्त से जारी मानते हैं। आलोचक सुधीश पचौरी उन्हीं जैसे विचारकों के आधार पर सन् '60 के बाद के समय को उत्तर आधुनिक समय के रूप में देखते हैं तथा इस बात की तरफ संकेत करते हैं कि भारतीय समाज उत्तर आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चुका है। बहरहाल, समकालीन कहानी पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि विचारधारा के स्तर पर हिन्दी साहित्य में इसकी उपस्थिति तो हैं, परन्तु रचना के स्तर पर पंकज बिष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते', प्रेम कुमार मणि की 'खोज', राजकुमार राकेश की 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएँ' आदि जैसी कहानियों में उत्तर आधुनिकता के प्रभाव को देखा जा सकता है। पर, इतना तो तय है कि वैचारिक स्तर पर समकालीन हिन्दी कहानी अत्यंत समृद्ध है। कहानीकारों ने परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को अपनी कहानियों का विषय बनाया है तथा उसे समकालीन समाज से जोड़ते हुए कहानी की दुनिया रची है। यहाँ उन कहानियों और कहानीकारों पर बात करना जरूरी है जो इस दौर को समझने में मदद करती है। आइए, हम इन पर संक्षेप में विचार करें।

समकालीन हिन्दी कहानी में दो तरह के कहानीकार हैं जो अपनी कहानियों के माध्यम से कहानी की दुनिया का विस्तार करते हैं – एक, वे कहानीकार, जिनका विकास नई कहानी और सचेतन एवं अकहानी के दौर में हुआ तथा जिनका लेखन सन् '70 के बाद भी जारी रहा है और दो, वे कहानीकार जिनकी कहानी की दुनिया में उपस्थिति आठवें दशक के समानान्तर और नौवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में हुई। एक तीसरी पीढ़ी भी है जिसकी पहचान कहानी के परिदृश्य में पिछले एक–डेढ़ दशकों में हुई है। यद्यपि, इस

प्रकार कहानी अथवा कहानीकारों की सूची बनाना एक कठिन कार्य है, परन्तु समकालीन कहानी को समझने के लिए कहानी के आलोचकों ने जिन कहानियों का बार–बार उल्लेख किया है; उन पर बात तो की ही जा सकती है। इसी प्रकार कुछ अच्छी कहानियाँ भी है, पर उनकी चर्चा न तो आलोचकों ने की है और न ही कहानी पत्रिका के सम्पादकों ने उनको उछाला। उदाहरण के लिए, श्मोएल अहमद की कहानी 'सिंघार दान', अंजनारंजन दाग की कहानी 'मुआवजा', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', अवधेश प्रीत की 'नृशंस', प्रेम कुमार मणि की 'खोज', शंकर की 'बत्तियाँ', रघुनंदन त्रिवेदी की 'स्मृतियों में पिता', चंद्रकिशोर जायसवाल की 'नकबेसर कागा ले भागा', सूरज प्रकाश की 'आजादी की स्वर्ण जयंती', प्रेमपाल शर्मा की 'पिज्जा और छेदीलाल', प्रियंवद् की 'बोधिवृक्ष', सुनील सिंह की 'शिकारगाह', संजय सहाय की 'मध्यान्तर', मनोज रूपड़ा की 'दफन', पारितोष चक्रवर्ती की 'सड़क नंबर तीस', विजय की 'कसाई', ओमा शर्मा की 'भविष्यद्रष्टा', योगेंद्र आहूजा की 'गलत', ज्ञान प्रकाश विवेक की 'पिताजी चुप है', रतन वर्मा की 'नेटुआ', ऋता शुक्ल की 'क्रौंचवध', अनंत कुमार सिंह की 'अपने लोग' आदि ऐसी ही कहानियाँ है जो कथानक और शैली की दृष्टि से बेजोड़ हैं; परन्तु, ये कहानियाँ आलोचकों अथवा विचारकों की चर्चा का हिस्सा नहीं बन पायी। ऐसी और भी अनेक कहानियाँ हो सकती हैं जिनकी चर्चा नहीं होती है।

समकालीन कहानी में पूर्व के कहानी आन्दोलन और दौर से जुड़े जिन कहानीकारों ने उल्लेखनीय कहानियाँ लिखी हैं, उनमें भीष्म साहनी की 'झूमर', शैलेश मटियानी की 'अर्द्धांगिनी', रमाकान्त की 'कार्लो हब्शी का संदूक', दूधनाथ सिंह की 'माई का शोकगीत', 'धर्मक्षेत्रे कुरक्षेत्रे', हृदयेश की 'मनु', सतीश जमाली की 'ठाकुर संवाद', रामदरश मिश्र की 'शेषयात्रा', राजी सेठ की 'यही तक', ममता कालिया की 'बाथरूम', मुद्राराक्षस की 'मुठभेड़', शेखर जोशी की 'नौरंगी बीमार है', कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की', काशीनाथ सिंह की 'एक लुप्त होती हुई नस्ल', मंजूर एहतेशाम की 'रमजान में मौत', इब्राहिम शरीफ की 'जमीन का आखिरी टुकड़ा', स्वदेश दीपक की 'कोर्ट मार्शल', मोहन थपलियाल की 'एक वक्त की रोटी', गिरीराज किशोर की 'आन्द्रे की प्रेमिका', विद्यासागर नौटियाल की 'पीपल के पत्ते', गंगा प्रसाद विमल की 'नुक्कड़ नाटक', गोविन्द मिश्र की 'खुदा के खिलाफ', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की 'गंदगी और जिंदगी', अमरकान्त की 'श्वान कथा', मंजुल भगत की 'मलबा', अमरीक सिंह दीप की 'खाड़कू', नारायण सिंह की 'चारा', सुमति अय्यर की 'विरल राग', निर्मल वर्मा की 'सूखा', रमेश बतरा की 'जंगली जुगराफिया', सत्येन कुमार की 'पनाह', सुधा अरोड़ा की 'बेजान शब्द', मुदृला गर्ग की 'तुक', चंद्रकान्ता की 'आवाज', विजेंद्र अनिल की 'विस्फोट', नमिता सिंह की 'मिशन जंगल और गिनीपिग' आदि प्रमुख है। इन कहानीकारों ने समकालीन समय के यथार्थ और उस यथार्थ के धरातल पर खड़े दबावों, सवालों और चुनौतियों को गंभीरता के साथ कहानियों में उठाया हैं।

इसी प्रकार आठवें दशक और उसके बाद जिन नये कहानीकारों ने समकालीन हिन्दी कहानी में पहचान बनाई, उनमें स्वयं प्रकाश 'पार्टीशन', चित्रा मुद्गल 'प्रेत योनि', अर्चना वर्मा 'राजपाट', रमेश उपाध्याय 'डेल्टा', मृणाल पाण्डेय 'लड़कियाँ', मधुकर सिंह 'हरिजन सेवक', मिथिलेश्वर 'बाबुजी', नासिरा शर्मा की 'बिलाव', संजीव 'अपराध', पंकज बिष्ट 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते', विष्णु नागर 'पैंट', महेश कटारे 'मुर्दा स्थगित', शंशाक 'दर–ब–दर', उदय प्रकाश 'टेपचू', असगर वजाहत 'स्वीमिंग पूल', अरूण प्रकाश 'मैया एक्सप्रेस', शिवमूर्ति 'तिरिया चरित्तर', मैत्रेयी पुष्पा 'गोमा हँसती है', हृषिकेश सुलभ 'बसंत के हत्यारे', प्रेम कुमार मणि 'खोज', कर्मेन्दु शिशिर 'पानी', हरि भटनागर 'सगीर और

उसकी बस्ती के लोग', ओम प्रकाश वाल्मीकि 'सलाम', श्रवण कुमार गोस्वामी 'यही एक रास्ता', नवीन जोशी 'दंगा', बनाफर चंद्र 'हित', प्रवण कुमार बंधोपाध्याय 'बारूद की सृष्टि कथा', मदन मोहन 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', विजयकान्त 'मरीधार', सृंजय 'कामरेड का कोट', अखिलेश 'चिट्ठी', ओमप्रकाश वाल्मीकि 'सलाम', गीतांजलि श्री 'अनुगूंज', अवधेश प्रीत 'नृशंस', सुभाष शर्मा 'भूख', संजय खाती 'पिंटी का साबुन', उर्मिला शिरिष 'चीख', सुशीला टाकभौरे 'सीलिया', जयप्रकाश कर्दम 'नो बार', राकेश वत्स 'काले पेड़' अनन्त कुमार सिंह 'मेनलीड', जयनन्दन 'विश्व बाजार का ऊँट', मुर्शरफ आलम जौकी 'गुलाम बख़्श', एस. आर. हरनोट की 'जीन काठी', प्रियदर्शन 'उसके हिस्से का जादू' आदि कहानियों के जरिये एक सार्थक हस्तक्षेप करते हैं। इन कहानीकारों ने समकालीन जिंदगी में समकालीन राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, साम्प्रदायिक आदि स्थितियों और विचारों के कारण आ रहे परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को गम्भीरता के साथ चित्रित किया है। समय का दबाव, तनाव, भय और अंतर्द्वंद्व की मार्मिक उपस्थिति इन कहानियों में देखी जा सकती है।

दरअसल 1990 ई. के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण का जो दौर शुरु हुआ, उसने भारतीय व्यवस्था को जड़ से हिलाकर रख दिया। इसे अस्थिर करने और विस्तार देने में मंडल कमीशन और बाबरी मस्जिद के ध्वंस की घटना ने निर्णयकारी भूमिका निभाई। यद्यपि 1980 के बाद के कहानीकारो ने भी परिवर्तन और विकास की इन अवस्थाओं को लेकर यादगार कहानियाँ लिखी। खासकर, उदय प्रकाश ने सांप्रदायिकता को लेकर 'और अंत में प्रार्थना', अरूण प्रकाश ने पंजाब के आतंकवाद के साये में काम कर रहे ' बिहारी मजदूरों को लेकर 'भैया एक्सप्रेस', मो. आरिफ ने आतंक के साये में जी रहे आम लोगों को लेकर 'तार', संजय खाती ने उपभोक्तावाद को लेकर 'पिंटी का साबुन', मनोज रूपड़ा ने विकास को लेकर 'बूड़ान', अखिलेश ने उपभोक्तावादी बाजार व्यवस्था में मनुष्य की जिन्दगी को लेकर 'जलडमरूमध्य', प्रेम कुमार मणि ने नई आर्थिक व्यवस्था में गाँव को लेकर 'खोज', ओमा शर्मा ने भूमंडलीकरण को लेकर 'भविष्यद्रष्टा', कैलाश वनवासी ने ग्रामीण जीवन के यथार्थ और उसमें सीमांत किसानों की जिन्दगी को लेकर 'बाजार में रामधन', अवधेश प्रीत ने नक्सलवाद की स्थितियों को लेकर 'नृशंस', जैसी यादगार कहानियाँ लिखी हैं।

दरअसल समकालीन कहानी का यह दौर कथा की भाषा, शिल्प, कहने के समय, कथा के चुनने के साथ–साथ उसे और अधिक यथार्थ बनाने का दौर है। इस दौर के कहानीकारों ने समकालीन जीवन ओर उसमें सामने घटित हो रहे इतिहास एवं निर्मित हो रही घटनाओं को वृहत्तर समाज के साथ जोड़ते हुए उसका सामाजिक स्तर पर विस्तार दिया है। इसीलिए इस दौर की कहानियाँ, सामाजिक समुदायों को अपनी कहानियाँ लगती है चाहे वह दलित हो या स्त्री; कोई आम आदमी हो या मध्यवर्गीय जिंदगी की गहमा–गहमी में खोया गतिशील जन – इधर के कहानीकारों ने अपने अनुभवों और विचारों के साथ उसे जोड़कर इतना अधिक संजीदा बना दिया है कि एक स्तर पर ये कहानियाँ मुक्तिधर्मी चेतना का आख्यान भी लगती है। यही कारण है कि ये कहानियाँ आज के लोगों को समाज और जीवन के बारे में सोचने की प्रेरणा देती है। इन कहानियों को पढ़ते हुए कई बार यह भी लगता है कि सर्वहारा मनुष्य जब टूटता है तो उसका भाग्य और उसके असहाय होने का यथार्थ–बोध, भय एवं सबकुछ टूट जाने की दशा में अजनबी होने का निरीह एहसास; फिर भी इस आम आदमी की रीढ़ ऐसी कि झुकने के बाद भी बार–बार तन जाती है –– जैसे, कहीं कुछ है, जो इस दौर की कहानियों को एक नया तेवर एवं मिजाज देकर उसे महत्वपूर्ण बना देता हैं। इस दौर की

कहानियों में मौजूद समकालीन समय की इस चेतना को निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है : 'उसे जोर से कंपकंपी आई। रोम रोम खरखरा उठा। 'नहीं'! वह धीरे से बुदबुदाया। आगे की सीट का हैंडिल उसने मजबूती से पकड़ लिया। गुर्राती बस आगे बढ़ती गई। आगे बढ़ना ही था। भैया एक्सप्रेस का सफर तमाम नहीं हुआ था।'' (भैया एक्सप्रेस : अरुण एक्सप्रेस, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ; सं. लीलाधर मंडलोई, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लि. दिल्ली, 2010)

स्पष्टतः सर्वहारा के विजय का यह वही एहसास है जिसे समकालीन कहानीकारों ने रचा है। इस प्रकार के नायकत्व और विजय का भाव पूर्व की कहानियों में दिखलाई नहीं पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हिंदी कहानी का यह वही दौर है, जहाँ रचना में कहानीकार के अनुभव और विचार की पक्षधरता साफ–साफ दिखलाई पड़ती है। कही कोई द्वंद्व या संदेह नहीं है! आज का समाज वैचारिक और सांकृतिक स्तर पर कहाँ और किसके साथ खड़ा है, वह समकालीन कहानियों को पढ़कर साफ कहा जा सकता है। चाहे वह कृषक–मजदूर समाज का सवाल हो अथवा दलित स्त्री का, साम्प्रदायिकता का सवाल हो अथवा भूमण्डलीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण का –– समकालीन कहानीकारों ने समाज के इन सवालों के साथ सीधी मुठभेड़ की है। उसे रचा है और सन् 70 के बाद के वृहत्तर समाज के सार्वजनिक चरित्रों को कहानी की दुनिया में हिस्सा बनाया है। सवाल है, ये समाज और चरित्र कौन–से है ? उनकी मुख्य समस्याएँ क्या है ? इतिहास, राजनीति संस्कृति और व्यवस्था के किन सवालों से ये जूझ रहे हैं ? शेष समाज से ये क्या चाहते हैं ? उनकी बनावट कैसी है ? उनका मन कैसा है ? आज के इस जटिल युग में वे कहाँ खड़े हैं ? इन सवालों पर हम आगे विचार करेंगे।

20.4 समकालीन हिन्दी कहानी : प्रवृत्तियाँ, समाज और प्रक्रियाएँ

20.4.1 लोकतंत्रीय व्यवस्था में आम आदमी और मध्यवर्ग

यद्यपि साहित्य अथवा कहानी में जब भी समकालीनता की चर्चा होती है, उसे आमतौर पर 'तत्कालीन' अथवा एक ही समय का मानकर स्वीकार कर लिया जाता है तथा इतिहास के साथ उसका कोई संबंध नहीं माना जाता है। जबकि ऐसा नहीं है। 1967 ई. में प्रकाशित पुस्तक 'समकालीन कहानी का रचनाविधान' में गंगा प्रसाद विमल ने मुख्यतः सन् 60 के बाद की कहानी के रचना विधान, समीक्षा, अकहानी एवं उसके बहाने उस दौर की कहानी के केंद्र में मौजूद जीवन के समग्र अस्वीकार तथा विद्रोह की मुख्य चेतना पर विचार करते हुए लिखा है कि ''वे सब रचनाकार जो कम–से–कम रोमांटिक भाव–बोध से तथा परंपरागत स्थिति से अलग है, और कथा रचना में अपने समग्र नयेपन का आग्रह करते हैं – समकालीन रचना के रचनाकार हैं। '' (सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, पृ. 17) और यह नयापन है–– जीवन के यथार्थ का तीखापन और यथार्थ स्थिति का ऐतिहासिक नजरिये से आकलन। यह चेतना विश्वनाथ त्रिपाठी के कहानी संबंधी मूल्यांकनों में देखी जा सकती है। उन्होंने 'कुछ कहानियाँ कुछ विचार' में प्रकाशित लेख 'समकालीन कहानी : कुछ विचार' में नई कहानी के कहानीकारों में फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, अमरकान्त, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव आदि पर विचार करते हुए 'ऐतिहासिकता' शब्द की चर्चा की है तथा लिखा है कि ''नई कहानी की शक्ति, ऐतिहासिक होने, देशकाल से संबद्ध होने और मानवीय रिश्तों की अंतस्सबंधता की पड़ताल करने में है।'' अर्थात कहानी में लेखक का सिर्फ 'अनुभव' या 'शिल्प' महत्वपूर्ण नहीं होता है, बल्कि विचारों के माध्यम से निर्मित 'इतिहास' भी महत्वपूर्ण होता है। कारण यह इतिहास ही है, जो कहानी को 'व्यक्ति' के साथ–साथ समाज और उसकी

सामाजिकता की रक्षा के लिये चलाये जा रहे संघर्षों से उसे जोड़ता है तथा उसे वृहत्तर समाज का हिस्सा बनाता है। समकालीन कहानी की खास विशेषता यही है कि उसमें समकालीन समय के इतिहास और विचारों का दस्तावेजीकरण दिखलाई पड़ता है। कहानीकार या उनके पात्र निस्सहाय नहीं दिखलाई पड़ते हैं। स्थितियों से भागकर कोई रोमांटिक यथार्थ नहीं गढ़ते हैं, बल्कि मौजूदा विसंगतियां एवं असमानता से सीधा टकराते हैं; मुक्ति के रास्ते बनाते हैं। कहानीकार या उनके पात्र निस्सहाय नहीं दिखलाई पड़ते हैं। स्थितियों से भागकर कोई रोमांटिक यथार्थ नहीं गढ़ते हैं, बल्कि मौजूदा विसंगतियों एवं असमानता से सीधा टकराते हैं। मुक्ति के रास्ते बनाते हैं।

वस्तुतः समकालीन कहानी, नई कहानी से इसीलिए अलग है कि जहाँ नई कहानी में अकेलापन, प्रेम, मोह–संबंधों के टूटन आदि की पहचान की चिंता है; वहां समकालीन कहानी में सामाजिक समुदायों एवं समूहों द्वारा अपने वजूद के लिए किए जा रहे संघर्षों को देखने एवं उसे ऐतिहासिक दृष्टि से व्याख्यायित करने की चेतना दिखलाई पड़ती है। इसीलिए, समकालीन कहानी में व्यक्ति और समाज के साथ उसके संबंधों की बजाय, सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर अस्तित्व रक्षा के लिए किए जा रहे संघर्ष की चेतना अधिक दिखलाई पड़ती है। दूसरे शब्दों में, समकालीन कहानी में यथार्थ में निर्मित में जितने बड़े पैमाने पर हाशिये के समाज की भूमिका दिखलाई पड़ती है, उतना अन्य दौर की कहानियों में नहीं। यहाँ परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं से गुजरते हुए शेष समाज के साथ ही मुख्य धारा के अंदर और बाहर हाशिये की जिंदगी व्यतीत कर रहे सामाजिक समूहों की चेतना को साफ–साफ देखा जा सकता है। खास बात यह है कि इन परिवर्तन और विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के तहत समकालीन हिंदी कहानी में निर्मित उन समाजों जैसे स्त्री, दलित आदिवासी आदि और उनकी चिंताओं की अनुगूँजों को इतिहास से संवाद करते हुए साफ–साफ देखा जा सकता है। जो इस दौर की कहानियों में है तथा जिसमें कहानीकारों ने कथावस्तु एवं उनमें चित्रित समाज को पारंपरिक विचारों की बजाय 'आधुनिक विचारों' से जोड़ने पर अधिक बल दिया है। कारण, इससे उनकी 'मुक्ति' का रास्ता आसान होता है और समाज में उनकी भी एक लोकतांत्रिक हैसियत बनती है। हंगरी के प्रसिद्ध विचारक जार्ज लुकाच ने चर्चित पुस्तक 'दि हिस्टोरिकल नावेल' (The Historical Navel) में लोकतांत्रिक मानववाद की चर्चा करते हुए इस बात का उल्लेख किया है कि किसी लेखक की रचना (की प्रवृतियों) को समझने के लिए यह देखना भी जरूरी होता है कि ''उसकी उत्पति किन अवस्थाओं में हुई तथा वह हमें किस दिशा में ले जा रही है।'' (इतिहास दृष्टि और ऐतिहासिक उपन्यास : जार्ज लुकाच, हिंदी अनुवाद : कर्ण सिंह चौहान, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2009, पृ. 270)। स्पष्टतः समकालीन हिन्दी कहानी : में ऐसा दिखलाई पड़ता है। इस दौर की कहानियों को पढ़ते हुए उसमें दर्ज सामाजिक समुदायों और समूहों की उत्पति की अवस्थाओं को सहज ही रेखांकित किया जा सकता है। यद्यपि इस दौर की कहानियों में भी शहर और गाँव दोनों है।, खासकर संजीव, महेश कटारे, शिवमूर्ति, अरुण प्रकाश आदि की कहानियों में भी 'नई कहानी' की तरह गाँव है। परन्तु ये गाँव समकालीन आंतक (जैसे–आतंकवाद) और भय (जैसे–विराम की प्रक्रिया में नष्ट होते पुराने गाँव) से टकरा रहे हैं। यहाँ प्रकृति, घटनाओं और चरित्रों में बिंब तथा संकेत की जगह वर्ण एवं वर्ग–केंद्रित संघर्ष अधिक है। इसलिए इन पर बातचीत की जा सकती है और न ही नई कहानी में अभिव्यक्त मानवीय अंतःसंबंध, प्रेम, अकेलापन आदि जैसी प्रवृतियों को बिंबों और संकेतों के बहाने चर्चा का विषय बनाया जा सकता है।

वस्तुतः समकालीन कहानी में आम आदमी, सामाजिक समुदायों और समूहों की उत्पति की जो अवस्थायें हैं, वे इस दौर की कहानियों की प्रवृति पर कुछ अलग ढंग से विचार

करने के लिए दबाव डालती है। चाहे वह स्त्री–समाज हो या दलित, आदिवासी हो अथवा हाशिये के अन्य समाज! समकालीन कहानीकारों ने इन समाजों पर कहानियाँ लिखने के बहाने समकालीन समय और इतिहास के अनगिनत सवालों से टकराने का साहस किया है तथा पूँजीवादी सभ्यता में 'वस्तु' बनते जा रहे 'मनुष्य' की विडंबनापूर्ण जिंदगी के यथार्थ को रचते हुए लोकतंत्रीय व्यवस्था में उनकी मुक्ति के रास्ते तलाशे हैं।

दरअसल भारतीय समाज की जो संरचना और विकास की प्रक्रिया है, उसमें इतनी तरह की असमानताएँ एवं विसंगतियाँ है कि लोग, समूह अथवा समुदाय उनसे टकराने और संघर्ष करने के लिए विवश है चाहे वह समाज का कोई भी तबका हो। सिर्फ दलित और स्त्री ही नहीं, अपितु अन्य सामाजिक समूह भी साम्प्रदायिक वैमनस्य अथवा आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में हाशिये पर जाने को बाध्य है। कई बार यह विवशता सार्वजनिक चरित्रों के अंदर निर्मित हो रहे 'भय' में तब्दील हो जाती है; परन्तु कई बार जब वही चरित्र–आन्दोलनों अथवा सामाजिक दायित्वों से जुड़ता है तब उसके अन्दर एक विचित्र प्रकार के 'साहस' एवं 'उत्साह' का संचार होता है। यह साहस और उत्साह एक भिन्न प्रकार की 'चेतना' का विकास करती है और उसके जीवन को एक ऐसी स्थिति में लाकर पटक देती है कि वह दुनिया के किसी भी प्रकार के शोषण, दमन और भय के खिलाफ संघर्ष के लिए अपने को तैयार कर लेता है। अरुण प्रकाश की 'भैया एक्सप्रेस' 'संजीव की 'पांव तले की दूब', विजयकान्त के 'मरीधार' में इसे देखा जा सकता है। यह यथार्थवाद की बड़ी विशेषताएँ है जिसकी चर्चा मार्क्सवादी विचारकों ने 'राजनीतिक दृष्टिकोण' के रूप में किया है। दृष्टिकोण 'संघर्षरत' लोगो को समाज की वास्तविकता और सच्चाई से परिचित कराकर उन्हें गतिशील बनाता है। समकालीन कहानी के अन्दर निर्मित उन विशेषताओं को उनकी प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए पहचाना जा सकता है।

इसी प्रकार इस धारा के दूसरे कहानीकार वे हैं जिनका उदय सन् 70 के बाद कहानी में हुआ तथा जिन्होंने कहानी के केंद्र में मध्यवर्ग के समानांतर आम आदमी की ज़िंदगी ओर उसके सवालों को रचना का विषय बनाया। यह आम आदमी एक तरफ जहाँ व्यवस्था की असमानता का शिकार था, वहीं दूसरी तरफ जन समूहों के संघर्ष से जुड़ते हुए जीवन के छोटे–छोटे सवालों से टकरा रहा था। उसके सामने एक विराट संसार भी कोने में असमर्थ महसूस कर रहा था। पर उसे समकालीन आन्दोलनों एवं विचारों से ताकत मिली। इस धारा के कहानीकारों में स्वयं प्रकाश, पंकज बिष्ट, मृणाल पाण्डेय, संजीव, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, उदय प्रकाश, मंजूर एहतेशाम, अरूण प्रकाश, अब्दुल बिस्मिल्लाह, रमेश उपाध्याय, प्रेम कुमार मणि, कमल कुमार, धीरेंद्र अस्थाना, विभांशु दिव्याल, हरियश राम, महेश दर्पण, कर्मेन्दु शिशिर, अखिलेश, देवेंद्र सुभाष शाह आदि प्रमुख है। जिन्होंने मध्यवर्गीय जिंदगी और उसके समानांतर जीवन की समस्याओं से जूझ रहे आम आदमी को मजबूत इरादों के साथ कहानियों में चित्रित किया। उदाहरण के लिए भीष्म साहनी ने 'झूमर', स्वयं प्रकाश ने 'बलि', ममता कालिया ने 'बोलनेवाली औरत', विष्णुनागर ने 'पेंट', उदय प्रकाश ने 'पालगोमरा का स्कूटर', चित्रा मुद्गल ने 'ब्लेड', अखिलेश ने 'बायोडाटा', देवेंद्र ने 'क्षमा करो हे वत्स' आदि कहानियों में समकालीन समाज में मध्यवर्गीय जिंदगी की विडंबनाओं, असहाय स्थितियों, असंतोष एवं 'भय' के साथ ही असहय वातावरण में जी रहे आम आदमी के मुश्किल भरे जीवन संघर्ष को देखा जा सकता है। खास बात है कि इस दौर के नायकों में निर्णय लेने की क्षमता पुरानी व्यवस्था से मुक्ति की बेचैनी और जब 'झूमर' (भीष्म साहनी) का अर्जुनदास यह कहता है कि 'मैं क्या समझाऊंगा' कभी–कभी अपने अभावों से जूझते हुए पात्रों की

स्थितियों–दायित्वों से निरपेक्ष हो जाने की विडंबना को इस धारा के कहानीकारों ने मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मैं तुम्हारी परिस्थितियों को नहीं जानता हूं।'' (समकालीन परिभाषा, पृ. 176) तो लगता है कि भीष्म साहनी की इस कहानी में जीवन की टकराहट का कोरा आदर्शवादी रूप निर्मित हो रहा है; परन्तु अन्तिम अंश ''मैं तुम्हारी परिस्थितियाँ को नहीं जानता हूँ।'' – साफ कर देता है कि जीवन में जो कुछ करना है, उसके बारे में निर्णय खुद लेना जरूरी है। इसी प्रकार, उदय प्रकाश ने 'पालगोमरा का स्कूटर' और अखिलेश ने 'बायोडाटा' कहानी में छोटी–छोटी जरूरतों की पूर्ति के लिए संघर्षरत एवं स्थितियों के कारण धीरे–धीरे परिवार और समाज की निगाह में अप्रासंगिक होते जा रहे मनुष्य की विडंबनापूर्ण यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है। यद्यपि कहानी में कई बार ऐसी निर्मितियाँ इस बात की तरफ भी संकेत करती है कि क्या लेखक या उसके पात्र आदमी के अभावों के संदर्भ में इस हद तक अमानवीय हो सकते हैं; जैसा कि 'पालगोमरा का स्कूटर' में कथाकार कवि रामगोपाल सक्सेना के प्रति दिखलाता है और 'बायोडाटा' में कहानी का नायक राजदेव अपनी पत्नी के प्रति ? ये दोनों पात्र अभावों में जी रहे हैं और अपनी छोटी–छोटी इच्छाओं की पूर्ति के लिए तरह–तरह से प्रयास कर रहे हैं कि अब तो उनकी दशा ठीक हो जाए; पर सच तो यह है कि उनकी हालत दिन–प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है और कुछ न कर पाने की स्थिति में 'बायोडाटा' के राजदेव जैसे पात्र और अधिक अमानवीय होने पर मजबूर है। क्या यह समकालीन समय का 'दबाव' है अथवा उत्तर आधुनिक समाज का यथार्थ जहाँ 'अमानवीय' होना मनुष्य की नियति बनता जा रहा है ? पर, क्या हर जगह ऐसी ही स्थिति है ? क्या स्थितियाँ इतनी भयावह हैं कि समकालीन समय में मनुष्य अमानवीय होने के लिए विवश है ?

20.4.2 कृषक–मजदूर समाज

समकालीन हिन्दी कहानी की एक बड़ी विशेषता इस आधुनिक समाज में गाँवों और शहरों में मुख्यधारा के अंदर और बाहर बेहतर जीवन के लिए संघर्षरत किसानों और मजदूरों की जिंदगी के यथार्थ का चित्रण है। खासकर, 1967 के नक्सलबाड़ी में हुए संघर्ष ओर 1990 के बाद भारत में शुरु हुए आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के कारण किसानों एवं मज़दूरों की ज़िंदगी पर गहरा असर पड़ा और हिंदी में विजेंद्र अनिल ने 'विस्फोट' विजयकान्त ने 'बीच का समर', 'मरीधार', सुरेश कांटक ने 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', मधुकर सिंह ने 'मेरे गाँव के लोग' अंजना रजन दाग ने 'मुआवजा', मदन मोहन ने 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', मिथिलेश्वर 'मेघना का निर्णय', संजीव ने 'तिरबेनी का तड़बन्ना', रामस्वरूप अणखी ने 'जोहड़ बस्ती', हृदयेश ने 'मजदूर', मेहनरून्निसा परवेज ने 'आतंक भरा सुख', से. रा. यात्री ने 'अंधेरे की सैलाब', विजेंद्र भाटिया ने 'शहादतनामा', शिवमूर्ति ने 'तिरिया चरितर, हृषिकेश सुलभ ने 'पथरकट', उदय प्रकाश ने 'टेपचू', हरी भटनागर ने 'घर कहाँ है', सृंजय ने 'कामरेड का कोट', बलराम ने 'कामरेड का सपना', प्रेमपाल शर्मा ने 'सूबेदार', विक्रम जनबंधु की 'प्रहरी', अवजेश प्रीत की 'नृशंस' आदि जैसे कहानीकारों ने हाशिये के किसानों और मजदूरों की कहानियाँ लिखी। उनके विचारों को महत्व दिया। इन कहानीकारों में विजेंद्र अनिल, संजीव विजयकान्त, मधुकर सिंह, सुरेश कांटक, मदन मोहन सृजय, अवधेश प्रीत आदि ने जहाँ वामपंथी आन्दोलनों से प्रभावित किसानों मजदूरों के कृषि–संबंधी संघर्ष एवं उस पर नक्सलवाद जैसे आन्दोलन के पड़े प्रभाव को लेकर वैचारिक कहानियाँ लिखी; वहाँ हृदयेश, हरि भटनागर, हृषिकेश सुलभ, अरूण प्रकाश, शिवमूर्ति, उदय प्रकाश, रमेश उपाध्याय, जितेंद्र भाटिया आदि ने मजदूरों की ज़िंदगी के छोटे–छोटे सुख और बड़े–बड़े दु:खों को रचना का विषय बनाया। इन

कहानियों में किसानों और मजदूरों की भूख, ऋणग्रस्तता, सामंती समाज द्वारा शोषण–दमन, जैसी समस्याओं को केंद्र में रखकर कहीनकारों ने कृषक–मजदूर समाज द्वारा किये जा रहे प्रतिरोध और संघर्ष को उनके जिंदगी के यथार्थ के रूप में चित्रित किया। उदाहरण के लिए जब सृंजय के 'कामरेड का कोट' का नायक कहता है कि 'बिना हथियार उठाये अब हमारा बचना मुश्किल है।'' (कामरेड का कोट, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ. 134), तब साफ पता चलता है कि गाँवों में मौजूद सामंती व्यवस्था के कारण हाशिये हाशिये के किसानों और मजदूरों की स्थिति कितनी खराब है और व्यवस्था के स्तर पर उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है न पुलिस न कोर्ट–कचहरी! और कई बार पुलिस की भूमिका ऐसी कि इनकी रक्षा में उठ खड़े लोगों के साथ जो अमानवीय व्यवहार करती है, वह आधुनिक लोकतंत्र के नाम पर एक काले धब्बे की तरह दीखता है। संजीव की कहानी 'अपराध' में नक्सली होने के आरोप में जेल में बंद जब सचिन संघमित्रा की पुलिस द्वारा की गयी अमानुषिक हत्या के बारे में बताता है तब पता चलता है कि क्यों यह विचारधारा शोषित कृषक–मजदूर समाज के लिए प्रतिरोध का सबसे बड़ा हथियार है और इसी हथियार के सहारे मर्द समाज शोषण और दमन के खिलाफ मोर्चाबंदी करना चाहते हैं – ''हम लोग अभी कमजोर है, इसलिए कि अलग–अलग खड़े हैं। उपधेया ताकतवाला आदमी है। उसके इशारे पर कोर्ट–कचहरी, जज, बरिस्टर और कोतवाल सब नाचते हैं. .. फिर भी हमें उससे लड़ना है। उसकी कमर तोड़नी है।'' (विस्फोट : विजेंद्र अनिल, प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984 ई. पृ. 115–116)

किसानों और मजदूरों का यह संघर्ष इसलिए भी जरूरी है कि पुरानी सामंती व्यवस्था से मुक्त हो सकें और नई व्यवस्था में अपने लिए जगह बना सकें! परन्तु क्या यह संभव है ? शायद नहीं; क्योंकि नई आर्थिक व्यवस्था के कारण ग्रामीण जीवन पर भी बाजारवाद का इतना गहरा असर होता जा रहा है कि किसान और मजदूर उससे त्रस्त है। परन्तु स्थिति ऐसी कि कुछ भी करने की हालत में वे नहीं है। फिर क्या करें ? प्रतिरोध का तरीका क्या हो ? इन स्थितियों की तरफ कैलाश वनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' संकेत करती है जब रामधन नामक किसान अपने बैलों को बेचने से इंकार कर देता है। इसलिए नहीं कि कम दाम मिल रहे हैं, बल्कि इसलिए वह मन से अपने बैलों को बेचना ही नहीं चाह रहा है। उसे खेती और किसानी से प्यार है। बैलों में उसका मन रमता है। देखें, उसके बैल पूछ रहे हैं, ''मान लो अगर दाऊ या महाराज तुम्हें चार हजार दे देते तो तुम क्या हमें बेच दिए होते ?''

रामधन ने जवाब दिया, ''शायद नहीं। फिर भी नहीं बेचता उनके हाथ तुमको।'' (बाजार में रामधन : कैलाश वनवासी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2004 ई., पृ. 18)

दरअसल समकालीन हिन्दी कहानी में किसानों और मजदूरों के ज़िंदगी के यथार्थ को कहानीकारों ने गहरे इतिहास बोध के साथ प्रस्तुत किया है जहाँ वे सामंती एवं पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित होने के लिए बाध्य है। कहानीकारों ने दिखलाया है कि कृषि–जीवन पर आधारित कहानियों में खेतिहर मजदूरों की हालत सर्वाधिक दयनीय है और इसीलिए जब उन्हें कभी मौका मिलता है, तब किसी आन्दोलन का हिस्सा बनकर यद्यपि प्रगतिशील राजनीतिक संगठनों ने किसानों और मजदूरों के शोषण और दमन को समकालीन राजनीति में महत्त्वपूर्ण सवाल के रूप में प्रस्तुत किया तथा इससे उनकी दशा में बदलाव भी आया। परन्तु आज भी किसान देश के अनेक हिस्सों में भूमि–सुधार कानून लागू नहीं होने के कारण मुख्यधारा के अन्दर हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने के लिए विवश है। विजयकान्त की 'बीच का समर', विजेंद्र अनिल की 'विस्फोट', सृंजय की 'कामरेड का कोट', मदन मोहन की 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', मिथिलेश्वर की 'मेघना का निर्णय' मधुकर

सिंह की 'मेरे गाँव के लोग' आदि जैसी कहानियों में संघर्षरत कृषक–मजदूर समाजों की विवशता और शोषण के खिलाफ किये जा रहे प्रतिरोध को देखा जा सकता है। इसी प्रकार हरि भटनाकर की कहानी 'मुन्ने की उम्र', हृषिकेश सुलभ की 'बड़े राजकुमार', उदय प्रकाश की 'टेपचू', अरूण प्रकाश की 'भैया एक्सप्रेस', शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्तर' और चन्द्रमोहन प्रधान की 'ऐही नगरिया के विध रहना' जैसी कहानियों में मजदूरों की जिंदगी की वास्तविकता को देखा जा सकता है जहाँ वे व्यवस्था के शोषण और दमन के शिकार है तथा भूख एवं ऋण जैसी समस्याओं से ग्रस्त! कई तो स्थितियों का सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर गाँव और समाज छोड़ने को विवश है।... पर, समकालीन कहानी की यह विवशता है कि उनमें आये सीमांत किसान और मजदूर प्रेमचंद–युगीन कहानियों में आये पात्रों की तरह निरीह, असहाय और लाचार नहीं है; बल्कि समकालीन संगठनों एवं आन्दोलनों के साथ जुड़कर ये ताकतवर हो चुके हैं तथा परिवर्तन एवं मुक्ति के लिए साहस के साथ संघर्ष कर रहे हैं। यद्यपि परिवर्तन और क्रांति के भाव को लेकर उनके 'रोमानी' होने के आरोप भी लगते रहे हैं। (जैसे – उदय प्रकाश की 'टेपचू') लेकिन इस धारा की कहानियों का मूल स्वर सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था दमन और शोषण से मुक्ति का रहा है और यही इन कहानियों की विशेषता भी है।

20.4.3 स्त्री–समाज

समकालीन हिन्दी कहानी को जिस प्रवृत्ति ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बनाया, वह है रचना और विचार के क्षेत्र में स्त्री–समाज की उपस्थिति। सन् 60 के बाद साहित्य; खासकर कथा के क्षेत्र में आयी स्त्रियों ने न केवल बौद्धिक जगत में हस्तक्षेप किया, अपितु स्त्री केंद्रित संगठनों और वामपंथी आन्दोलनों से जुड़कर रचना और विचार की दुनिया में स्त्री की पहचान को स्थापित भी किया। पश्चिम नारीवादी आन्दोलनों को की भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जहाँ सिमोन द बोउवा, केट मिलेट, बेट्टी फ्राइडेन, जर्मेन ग्रीयर आदि ने आन्दोलनों और विचारों के ज़रिये स्त्री के अधिकारों की वकालत की तथा लिंग के आधार पर भेदभाव को प्रतिबंधित करवाने की दिशा में पहला अमरीका में 1966 में गठित राष्ट्रीय महिला संगठन की भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इन सबका असर यह हुआ कि सन् 70 के बाद स्त्री की दुनिया बदलने लगी और स्त्रियाँ घरों से बाहर निकली तथा श्रम के बाजार में उनकी भागीदारी बढ़ी। इनमें जिन पुस्तकों ने साहित्य और विचार की दुनिया में 'स्त्री' के महत्त्व को स्थापित किया, उनमें सिमोन द बोउवा की 'द सेकेंड सेक्स', केट मिलेट की 'सेक्सुअल पॉलिटिक्कस' और जर्मेन ग्रीयर की 'फीमेल यूनख' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। य़द्यपि हिन्दी के स्त्री लेखन की पृष्ठभूमि में इन विचारकों की कोई बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है; फिर भी हम कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' (1967), मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' (1979) और हाल के दशकों में प्रकाशित उन लेखिकाओं (जैसे मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता आदि) को देख सकते है। इन पुस्तकों जिनमें 'देहमुक्ति' को भी स्त्री–मुक्ति का एक बड़ा रास्ता बताया गया है यह रास्ता पश्चिमी विचारकों के लिंग–भेद जैसे विचारों के करीब दिखलाई पड़ता है। परन्तु हिंदी में स्त्री लेखन की जो वैचारिक और पारम्परिक धारा रही है, उनमें मीराबाई, पंडित रमाबाई, महादेवी वर्मा जैसी लेखिकाएँ 'देह' के बदले भारतीय सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित एवं संचालित करने वाली सबसे बड़ी व्यवस्था ––वर्ण–व्यवस्था तथा पितृसत्ता को सीधी चुनौती देने का साहस करती है। महादेवी वर्मा ने तो 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942) में स्त्री की सामाजिक अस्मिता को महत्त्व देते हुए उस स्त्री–शक्ति को गतिशील करने की बात की है जिसके आधार पर स्त्रियाँ अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकेंगी। इसीलिए हिन्दी के स्त्री–लेखन में दो धारा दिखलाई पड़ती है एक, जो भारतीय समाज

में नवजागरण की परम्परा से प्रभावित है दूसरी, जो पश्चिम से प्रभावित होते हुए पितृसत्ता को सीधी चुनौती देती है और स्त्री–मुक्ति को देह, अर्थ, प्राचीनता आदि से जोड़ती है। जहाँ पहली धारा के कहानीकारों में मन्नू भंडारी, मंजुल भगत, चित्रा मुद्‌गल, कृष्णा अग्निहोत्री, मेहरून्निसा परेवज, अनामिका आदि महत्त्वपूर्ण है, वहाँ दूसरी धारा में कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, अर्चना वर्मा, रमणिका गुप्ता आदि। इन स्त्री कहानीकारों ने समकालीन कहानी में स्त्री की सामाजिक अस्मिता को स्थापित करते हुए स्त्री–लेखन को एक नयी दिशा दी है।

यद्यपि पितृसत्ता का विरोध दुनिया के तमाम स्त्रीवादी विचारकों ने किया है क्योंकि यह (पितृसत्ता) परिवार की आर्थिक स्थिति, यौन–संबंध और सांस्कृतिक मामलों में पुरुष के वर्चस्व की बात करता है और स्त्री के विचारों को महत्त्व नहीं देता है। यहाँ तक कि वह एक तरफ जहाँ स्त्री को 'श्रद्धा' के रूप में मान देता है तो वहीं दूसरी तरफ 'वस्तु' के रूप में उनका उपयोग भी करता है। यही कारण है कि 'परम्परा' के नाम पर मौजूद इस प्राचीन व्यवस्था का स्त्रियों ने सर्वाधिक विरोध किया और इससे मुक्ति की बातें की। यद्यपि प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, नागार्जुन, जैनेंद्र, यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु, मोहन राकेश, अमृतलाल नागर, द्विजेंद्र नाथ मिश्र, निर्गुण, अज्ञेय, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, दूधनाथ सिंह, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, कमलेश्वर, पंकज बिष्ट, ओमप्रकाश वाल्मीकि, शिवमूर्ति, रमेश उपाध्याय, संजीव और अरुण प्रकाश जैसे पुरुष कथाकारों ने भी अपनी कहानियों में स्त्री–समाज से जुड़े सवालों को गम्भीरता से उठाया है, परन्तु स्त्री कथाकारों ने पुरुष वर्चस्व का विरोध करते हुए स्त्री–प्रतिरोध का जो साहित्य रचा उसमें स्त्री–पुरुष के संबंधों को एक स्त्री की दृष्टि से देखा तथा स्त्री के अनुभव तथा विचार को महत्त्व दिया एवं स्त्री–पुरुष के संबंध में स्त्री के अनुभव को सही बताया। उदाहरण के लिए कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी के अलावा ममता कालिया ने 'बोलनेवाली औरत', सुधा अरोड़ा ने 'काली लड़की का करतब', अर्चना वर्मा ने 'जोकर', 'राजपाट', सिम्मी हर्षिता ने 'ठहरी हुई बूंदे', कमल कुमार ने 'नहीं बाबू जी नहीं' अरुणा सीतेश ने 'मोहरा', मृणाल पाण्डेय ने 'लड़कियाँ', चित्रा मुद्‌गल ने 'लकड़बग्घा' नासिरा शर्मा ने 'बिलाव' मैत्रेयी पुष्पा ने 'गोमा हँसती है', मेहरुन्निसा परवेज ने 'टोना', सुशीला टाकभौरे ने 'सिलिया' और गीतांजलि श्री ने 'अनुगूंज' जैसी कहानियों में पितृसत्ता को चुनौती देते हुए समाज में मौजूद इस धारणा को तोड़ा कि स्त्री जीवन की सबसे बड़ी विडंबना और त्रासदी – स्त्री होना है! इन लेखिकाओं ने यह बताया कि 'स्त्री' समाज का हिस्सा है उनकी पहचान एक अलग इकाई के रूप में होनी चाहिए। यही स्त्री–जीवन का और समाज का भी सच है। हाँ, यह जरूर है कि हिन्दी में लिखने वाली स्त्री कहानीकारों ने जो कहानियाँ लिखी उनमें एक तरह जहाँ भारतीय समाज की व्यवस्था के अन्दर हाशिये पर पड़ी स्त्री के लिए बेहतर जगह (Space) की मांग की; वहाँ, दूसरी तरफ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जगह स्त्री प्रधान सत्ता का शास्त्र रचने की वकालत की। मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्‌गल, मंजुल भगत, मृणाल पाण्डेय, अरुणा सीतेश आदि जैसी स्त्री कहानीकार जहाँ पारम्परिक जीवन पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था में स्त्री अस्मिता की बातें करती हैं, वहाँ कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, अर्चना वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा और सुशीला टाकभौरे जैसी कहानीकार पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था के समानांतर एक नयी व्यवस्था की मांग करती है। उदाहरण के लिए, चित्रा मुद्‌गल 'लकड़बग्घा' कहानी में जहाँ परिवार और समाज से व्यवस्था के अन्दर स्त्री को 'ज्ञान' की परम्परा से जोड़ने की माँग करती है और न मिलने पर पितृसत्ता के खिलाफ उठ खड़ी होती है; वहाँ, 'सिलिया' कहानी में सुशीला टाकभौरे की स्त्री नायिका स्त्री–पुरुष संबंध की सबसे मजबूत एवं पारंपरिक कड़ी विवाह को मानने से इंकार कर देती है। उसी प्रकार अर्चना वर्मा की 'जोकर' कहानी की बच्ची यह कहकर पाठकों को

स्तब्ध कर देती है कि स्त्री समाज में पुरुष की क्या जरूरत है : ''कितना अच्छा हुआ न अम्मू कि पापा पहले ही मर गये। और हमारे घर में दूसरा भी कोई मर्द है ही नहीं। आई थिंग आई एम लक्की। रियली लक्की।'' (देह देहरी : सं. चित्रा मुद्‌गल, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 2003 ई., पृ. 104)

स्त्री समाज का कितना बड़ा यथार्थ है यह! यद्यपि इस कहानी में इस बात का भी उल्लेख है कि भारत में स्त्रियाँ, परिवार अथवा समाज में समुचित अधिकार और सम्मान न मिलने के कारण ही पुरुषों से अलग होती है इससे इतना तो साफ पता चलता है कि स्त्री कहानीकारों ने सामाजिक और पारिवारिक जिंदगी में पुरुषों के महत्त्व को अस्वीकारा नहीं है। पर, सवाल वही है कि वर्चस्व किसका हो ? स्त्री के जीवन पर खुद स्त्री का अथवा किसी और (मर्द) का ? समकालीन स्त्री कथाकारों ने अपने जीवन पर पुरुषों के अधिकार मानने से इंकार कर दिया है। स्त्री–लेखन की यह सबसे बड़ी विशेषता है तथा एक बड़ी विशेषता समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री कहानीकारों की एक अलग पहचान बनाना है।

20.4.4 दलित समाज

समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री–समाज की तरह दलित–समाज की उपस्थिति भी एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। जिस तरह स्त्री आन्दोलनों के कारण सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में स्त्री अधिकारों की मांग तेज हुई तथा उसमें सबसे बड़ी बाधा–पितृसत्ता का स्त्रियों ने व्यवहारिक और लेखन के स्तर पर विरोध किया; ठीक उसी तरह, 19वीं सदी में ज्योतिबा फुले और 20वीं सदी में बाबा साहब अंबेडकर के आन्दोलनों और विचारों के कारण सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में हाशिये की जिंदगी व्यतीत कर रहे दलित समाज के अधिकारों को लेकर भी बहसें शुरू हुई। खासकर, जब 1956 में अंबडेकर ने यह कहते हुए अपने समर्थकों के साथ हिन्दू धर्म को छोड़ने की घोषणा की कि ''गले–सड़े धर्म को त्याग कर–जो असमानता और उत्पीड़न को मान्यता देता है–मैं आज एक नया जन्म ले रहा हूँ और नरक से मुक्ति प्राप्त कर रहा हूँ।... मैं हिन्दू धर्म को त्यागता हूं।''– तो इसका गहरा असर सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन की मुख्यधारा पर पड़ा। महाराष्ट्र सहित पूरे भारत में दलित आन्दोलन को एक नयी दिशा मिली। लेखन और विचारधारा की दुनिया में बदलाव आया, इसे और ताकत मिली व 1961 में 'अस्मिता दर्श' के प्रकाशन और 1972 ई. मुंबई में गठित दलित पैंथर से, जिसने अपने घोषणापत्र में यह कहा कि ''राजसत्ता, धर्म, सम्पत्ति और सामाजिक हैसियत के आधार पर होनेवाली सभी ज्यादतियों के खिलाफ संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ, भूमिहीन मजदूर, छोटे किसान और घूमंतू जनजातियाँ दलित विमर्श : देवेंद्र चौबे, ओरियंट ब्लेक स्वान, दिल्ली, 2009, पृष्ठ 226) मराठी में नामदेव ढसाल सहित दया पवार, अर्जुन डांगले, बेबी कांबले, शरणकुमार लिंबाले, लक्ष्ण गायकवाड़, सूर्यनारायण रणसुभे आदि का लेखन के क्षेत्र में कदम इन्हीं सारी परिस्थितियों का परिणाम था। हिन्दी के दलित साहित्य पर मराठी के दलित संदर्भों का गहरा प्रभाव है लेकिन 1912 एवं उसके बाद स्वामी अछूतानन्द के प्रयासों से हिन्दी क्षेत्र में दलित चेतना का उदय हुआ था। 1914 में प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' से भी हिन्दी में दलित लेखन को बल मिला, परन्तु दलित लेखन में तेजी 1990 के बाद आई। दलित रचनाओं में भारतीय समाज की सबसे मजबूत व्यवस्था – वर्ण–व्यवस्था का प्रतिरोध और वर्ण–व्यवस्था को मजबूत करने वाले दो कारक – 'ज्ञान' एवं 'सत्ता' के केंद्र में खड़े 'ब्राह्मणवाद' और 'सामंतवाद' के दमन और शोषण के खिलाफ आवाज उठाई गई है। 'ज्ञान' के संदर्भ में ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'पच्चीस चौक डेढ़ सौ' एवं 'सत्ता'

तथा संस्कृति के संदर्भ में 'सलाम' जैसी कहानियों का आना दलित कहानी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इन कहानियों ने हिन्दी की दलित कहानी की दिशा तय करने में निर्णायक भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए 'पच्चीस चौक डेढ़ सौ' में कहानी में मास्टर का यह कथन कि ''दिमाग में कूड़ा करकट जो भरा है। पढ़ाई–लिखाई के संस्कार तो तुम लोगों में आ ही नहीं सकते।'' (वही पृ. 138) जहाँ दलितों के बारे में मुख्यधारा की बनी धारणा एवं मानसिकता को दर्शाता है, वहाँ 'सलाम' के नायक का यह कथन उनके अन्दर सवर्ण समाज की निर्मितियों एवं संकेतों के खिलाफ पनप रहे आक्रोश और प्रतिरोध के भाव को प्रकट करता है : ''आप चाहे जो समझें... मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह सलाम की रस्म बन्द होनी चाहिए।'' (सलाम : ओमप्रकाश वाल्मीकि; राधाकृष्णन प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 17)

ज्ञातव्य हो कि गाँवों में यह एक पुरानी प्रथा है कि विवाह के बाद दलित युवकों को सलामी के लिए सवर्ण समाज के दरवाजे पर जाना पड़ता है। 'सलाम' का नायक हरीश विवाह के बाद सलामी के लिए जाने से इंकार कर देता है। आलोचकों ने इसी प्रकार के प्रतिरोध को भाव को 'दलित–चेतना' के रूप में स्थापित किया है।

दलित कहानी में मौजूद दलित समाज के जीवन्त अनुभव का यह वही यथार्थ है जिसे वर्ण एवं जाति केंद्रित समाजिक व्यवस्था के शोषण और दमन के खिलाफ दलित कहानीकारों ने रचा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अलावा जिन अन्य कहानीकारों ने दलित कहानी को समकालीन हिन्दी कहानी के केंद्र में लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई उनमें मोहनदास नैमिशराय की 'आवाजें', 'अपना गाँव' जय प्रकाश कर्दम की 'नो बार', सुशीला टाकभौरे की 'सिलिया', दयानन्द बटोही की 'सुरंग', एस.आर. हरनोट की 'जीनकाठी', कुसुम वियोगी की 'अंतिम बयान' श्यौराज सिंह बेचैन की 'शोध–प्रबंध', सूरजपाल चौहान की 'अहिल्या', प्रहलाद चन्द दास की 'लटकी हुई शर्त', शत्रुघन कुमार की 'हिस्से की रोटी', बिपिन बिहारी की 'बिवाइयाँ', रत्न कुमार सांभरिया की 'फुलवा', अजय नावरिया का 'उपमहाद्वीप' आदि प्रमुख है। इन कहानियों में लेखकों ने दलित समाज के उत्पीड़न, संघर्ष और प्रतिरोध का यथार्थ चित्रण किया है।

20.4.5 आदिवासी एवं हाशिये के अन्य समाज

समकालीन हिंदी कहानी की एक मुख्य प्रवृत्ति आदिवासी समाज सहित उन हाशिये के लोगों की कहानी में उपस्थिति है जिन्होंने 1970 के बाद के भारतीय समाज की मुख्यधारा को गहराई से प्रभावित किया है। 1947 में स्वाधीनता के बाद विकास की प्रक्रिया के केंद्र में यद्यपि आदिवासी समाज रहा; परंतु असमान विकास की प्रक्रिया एवं भ्रष्ट तंत्र ने हाशिये के समाज के लिए बेहतर वैकल्पिक स्थितियां नहीं बनाईं। इसीलिए एक तरफ यह समाज (आदिवासी) विकास के कारण 'विस्थापन' का दंश झेलने के लिए जहां बाध्य रहा, वहां दूसरी तरफ मुख्यधारा के शोषण और दमन का शिकार होकर हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश। प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी का तो यहां तक कहना है कि ''...गरीबों, आदिवासियों के साथ प्रशासन ने अच्छा व्यवहार नहीं किया है। मानों वे देश के नागरिक ही नहीं हों!'' (वर्तिका सं. महाश्वेता देवी और अरूण कुमार त्रिपाठी, अक्टूबर–दिसंबर–2010 पृ. 65) कई बार आदिवासी अथवा जनजातीय संस्कृति को बचाने के नाम पर प्रशासन या व्यवस्था की तरफ से जो प्रयास हुए, उसमें इनका शोषण अधिक हुआ, संरक्षण कम। प्रसिद्ध आदिवासी विचारक वाहरू सोनवणे ने 1990 में महाराष्ट्र के थाणे जिले में पालघर तहसील में आदिवासी सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था कि ''आदिवासी संस्कृति की सबसे पहली विशेषता 'सामूहिकता' है।'' (आदिवासी साहित्य की अस्मिता, वाहरू

सोनवणे, पहल : 47 सं. ज्ञानरंजन, नवंबर 1992 से अगस्त–1993; पृ. 158) अर्थात् वह सामूहिकता जो आदिवासियों को घने जंगलों में मिल–जुलकर रहने और सामूहिक जीवन की आचार संहिता प्रदान करता है। आदिवासी विचारकों का मानना है कि उनकी इस विशेषता को मुख्यधारा ने कभी समझा ही नहीं! इसी व्याख्यान में वाहरू सोनवणे ने यह भी कहा था कि ''दहेज देकर आदिवासी समाज को खरीदा जाता है और समाज तले स्त्री को वस्तु समान और गुलाम समान व्यवहार किया जाता है।' यानी कि मुख्यधारा का समाज आदिवासी समाज की स्त्रियों के साथ अश्लील और गुलाम–सा व्यवहार करता है। आदिवासी समाज द्वारा मुख्यधारा में शामिल न होने के सवाल पर उन्होंने कहा था कि ''आदिवासियों को न्याय मिले, ऐसी एक भी धारा आज दिखाई नहीं देती।'' (वही, पृ. 155)

स्पष्टतः आदिवासी समाज के संदर्भ में वाहरू सोनवणे ने जो सवाल उठाये हैं, वह भारतीय समाज और राष्ट्र–राज्य के विकास की प्रक्रिया एवं पद्धति पर एक गहरी चोट है। मुख्यधारा को नियंत्रित करने वाले लोग आज तक यह विश्वास नहीं दिला पाये हैं कि सरकारी तंत्र वास्तव में उनका विकास करना चाहते हैं। यदि हम समकालीन हिंदी कहानी पर विचार करें तो साफ पता चलता है कि वाहरू सोनवणे जैसे विचारकों द्वारा उठाये गये सवाल वास्तव में कितने प्रासंगिक और सही है। विकास की प्रक्रिया और आदिवासी समाज को मुख्यधारा में शामिल करने के सवाल का भालचंद्र जोशी की कहानी 'पहाड़ों पर रात', संजीव की 'प्रेतमुक्ति', ' घर चलो दुलारी बाई', 'पांव तले की दूब' और अरूण प्रकाश की 'बेला एक्का लौट रही है' जितना गंभीर सवाल उठाती है, वह विचारणीय है। उसे उपयुक्त कहानियों के निम्नलिखित अंशों द्वारा समझा जा सकता है–

एक

कितना अजीब बात है। हर महीने हम लोग प्रोग्रेस–रिपोर्ट भेजते हैं। सालों हो गये। शायद इसके पहले दूसरे भेजते होंगे। लेकिन प्रोग्रेस कहां हुई ? इन आदिवासियों के टपरों के रंग तक नहीं बदले।''

(पहाड़ों पर रात : भालचंद्र जोशी, पहल : 40 जुलाई–दिसंबर–1990; पृ. 63–64)

दो

यहां तक कि सिन्हा साहब जैसे मुख्यधारा के लोग जब यह कहने लगते हैं कि 'न पढ़ाई–लिखाई, हुनर, अनुभव से मतलब न देश से, बस खुराफातें करते रहेंगे। कौन कहता है कि ये निरीह हैं ? मुझे आदमी चाहिए काम का आदमी। मैं आदिवासियों का उद्धार करने नहीं आया यहां।

(पांव तले की दूब : संजीव, हंस, सं. राजेंद्र यादव, सितंबर–1990, पृ. 67)

तीन

मैं भी रोया था और हमसे हमारी झोपड़ी, हमारा, सल्फी का पेड़, मेरे नंग धड़ंग दोस्त, थाना–गुड़ी और घोटुल सभी छूट गये। मैं मीलों दूर आने पर भी लौटकर अपने घर को आंगन को डबडबायी हुई नजरों से देखता रहा था।

(शिलान्यास : मनीष राम, इंद्रवती : सं. मनीष राम और बलराम, प्राचीन प्रकाशन, दिल्ली, 1982 पृ.. 274)

स्पष्टतः उपर्युक्त तीनों कहानियों में, अंश एक और दो में, आदिवासी समाज के विकास की प्रक्रिया को जहां मुख्यधारा की निगाह से देखने का प्रयास है, वहीं तीसरे अंश में मध्य प्रदेश के मुरिया जनजाति के एक युवक के जन्मस्थान से दूर होने की पीड़ा और विस्थापन के मनोभावों को एक आदिवासी के नजरिये से बयान करने की कोशिश की गई है। उपर्युक्त अंशों से यह भी पता चलता है कि विकास के नाम पर आदिवासी समाज को कितना उत्पीड़ित किया गया है और मुख्यधारा में लाने के नाम पर उनकी भावनाओं के साथ कितना खिलवाड़। .... आदिवासी विचार वाहरू सोनवणे लगाते हैं, वह शायद इसीलिए संजीव झारखण्ड आंदोलन के सवालों पर विचार करते हुए कहा 'पांव तले की दूब' में उसे 'एक शोषित राष्ट्रीयता का सवाल'' मानते हैं। यानी कि आदिवासी समाज का सीधे तौर पर ऐतिहासिक रूप से शोषण एवं उत्पीड़न की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। जिसे समकालीन कहानीकारों ने गहराई के साथ उठाया है। भालचंद्र जोशी, संजीव, अरूण प्रकाश, मनीष राम के अलावा जिन कहानीकारों ने समकालीन कहानी में आदिवासी समाज के विकास, विस्थापन और उत्पीड़न के सवाल को उठाया है उनमें मेहरून्निसा परवेज (टोना), ललित शाह (गुरमा), राकेश वत्स (अवशेष), कैलाश वनवासी (सुरक्षित–असुरक्षित), पूरन हार्डी (बुड़ान) आदि की कहानियां महत्वपूर्ण है। यह जरूर है कि आदिवासी समाज या हिंदी में जो लिखा जा रहा है, उसमें आदिवासी लेखकों की उपस्थिति नगण्य है, परंतु पीटर पॉल एक्का (जंगल के जीत : उपन्यास) हरिराम मीणा (घूणी तपे तीर : उपन्यास), टी.वी. कट्टोमनी, निर्मला पुतुल आदि जैसे कुछ–एक लेखक और कवि हैं जो हिंदी में आदिवासी समाज की मुश्किलों, आकांक्षाओं एवं उनके जीवन–संघर्ष को इतिहास में मौजूद अंतर्विरोधों के साथ उठा रहे हैं। इससे लेखन, खासकर कहानी की दुनिया में उनकी (आदिवासी समाज) जंगल एवं जमीन से लगाव रखने वाले समाज के साथ ही शोषण तथा दमन के खिलाफ संघर्ष करने वाली छवि प्रजाति के रूप में भी बन रही है, जो यथार्थ में है।

हाशिये के अन्य समाज

समकालीन हिंदी कहानी में आम आदमी, सीमांत कृषक–मजदूर समाज, स्त्री दलित और आदिवासी समाज के अलावा जिन हाशिये के समाज की उपस्थिति दिखलाई पड़ती है, उनमें घरेलू नौकर, स्वरोजगार में लगे लोग, बेसहारा लोग आदि प्रमुख हैं। हाशिये के ये सभी लोग भारतीय सामाजिक जिंदगी की मुख्यधारा के अंदर विकास की प्रक्रिया से नहीं जुड़ पाने के कारण हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश हैं। यद्यपि आर्थिक कारणों से ऐसा अधिक होता है तथापि मानवीय विकास की प्रक्रिया में कभी–कभी यह सामाजिक और सांस्कृतिक भी होता है। आर्थिक विषमता के कारण ही व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय स्थान–परिवर्तन करते हैं तथा अपनी संस्कृति छोड़कर नयी जगह और नये समाज की संस्कृति में रहने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस हालत में वे लंबे समय तक नये परिवेश तथा व्यवस्था में अपने को सार्थक ढंग से समायोजित नहीं कर पाते हैं तथा उस अवधि में अजनबीयत की ज़िंदगी जीने के लिए विवश हो जाते हैं। समकालीन हिंदी कहानी में जिन कथाकारों ने ऐसे समाज पर कहानियाँ लिखी हैं, उनमें घरेलू नौकर पर केंद्रित कहानियों में अर्चना वर्मा की 'राजपाट', रमाकांत की 'भागमनी आयेगी', चित्रा मुद्गल की 'इस हमाम में', कृष्णा अग्निहोत्री की 'रमकलिया', अखिलेश की 'खोया हुआ पुल', हरि भटनागर की 'लड़के', शैलेंद्र श्रीवास्तव की 'दुहाई सरकार', जवाहर सिंह की 'रेतघर' आदि प्रमुख हैं। इन कहानियों में घरेलू नौकरों के साथ परिवार और समाज द्वारा उनके साथ में किये जा रहे अमानवीय व्यवहार उपेक्षा, शारीरिक यातना, अविश्वास, अपमान आदि जैसे भाव और समस्याओं को उठाया गया है।

समकालीन हिंदी कहानी की एक मुख्य विशेषता हाशिये के उस समाज का चित्रण है जो स्वरोजगार में लगा है तथा आये दिन तरह–तरह के मानसिक और शारीरिक उत्पीड़न का शिकार होता रहता है। इस प्रकार के समाज की प्रमुख समस्या अस्तित्व रक्षा और भूख का संकट है। इस प्रकार की कहानियों में सतीश जमाली की एक रिक्शाचालक पर केंद्रित 'ठाकुर संवाद', अमितेश्वर की बर्तनों पर कलई करने वालों पर केंद्रित 'धंधा', शैवाल की बुनकरों पर केंद्रित 'परास्चित', हरि भटनागर की नालसजि का काम करने वाले एक युवक पर केंद्रित 'सगीर और उसकी बस्ती के लोग', पंकज बिष्ट की ठेले पर मूंगफली बेचकर परिवार का गुजारा करने वाले दो लड़कों पर केंद्रित, 'टुण्ड्रा–प्रदेश', स्वदेश दीपक की मदारी पर केंद्रित 'तमाशा' और प्रेम कुमार मणि की तमाशा दिखाने वाले मदारी पर ही केंद्रित 'काँस के फूल', कर्मेन्दु शिशिर की रिक्शाचालक पर 'प्रतीक्षा', चित्रा मुद्गल की तांगेवाले पर केंद्रित 'जनावर' आदि प्रमुख है। इन कहानियों में हाशिये के इस समाज की गरीबी, भूख, भय, अकेलापन, संकट आदि जैसी स्थितियों एवं समस्याओं का गहराई के साथ चित्रण किया गया है।

इसी प्रकार, समकालीन हिंदी कहानी में आये वे बेसहारा लोग भी हाशिये के महत्त्वपूर्ण चरित्र हैं जिन्हें समाज पागल अथवा भिखारी के रूप में जानता है। इस समाज पर केंद्रित जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की 'पुल के नीचे', जवाहर सिंह की 'कंगाली', चित्रा मुद्गल की 'चेहरे' आदि में जहां भिखारियों की मार्मिक जिंदगी का बयान है, वहां शैलेश मटियानी की 'इब्बू मलंग', माधव नागदा की 'जहाकांटा', क्षितिज शर्मा की 'सीमांत' आदि में पागलपन की स्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे लोगों की ज़िंदगी का यथार्थ चित्रण किया गया है। इन कहानियों में लेखकों ने यह दिखलाया है कि समाज की इनके प्रति कोई न कोई जवाबदेही है, और न ही सहानुभूति। मुख्यधारा में रहते हुए भी ये लोग उपेक्षित जिंदगी जीने के लिए बाध्य है। यद्यपि विचारकों का यह मानना है कि पागलपन और भिक्षावृत्ति का मुख्य कारण आर्थिक ही है; परंतु मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि व्यक्ति के साथ ऐसी स्थिति सामाजिक उपेक्षा के साथ होती है इसीलिए, इस प्रकार के लोगों के व्यवहार असामान्य हो जाते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए.ओ. लवजॉय ने लिखा है कि ''ऐसी दशा में व्यक्ति की मानवीयता खत्म हो जाती है तथा वह आदिम मनुष्य–सा व्यवहार करने लगता है।'' (मैडनेस, मोरलिटी एंड मेडिसीन, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, वर्ष 1985, पृ. 3) जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, क्षितिज शर्मा आदि की कहानियों के पागलपन एवं भिक्षावृत्ति से ग्रस्त चरित्रों में इस प्रकार के अमानवीय व्यवहार देखे जा सकते हैं। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की कहानी का भिखारी नायक मैकू तो बुढ़िया भिखारिन की गला दबाकर इसलिए हत्या कर देता है कि उसकी लाश के कफन के लिए अधिक भीख ले पायेगा; ''मैकू ने बुढ़िया के शरीर को झकझोरा।... उसकी सारी कलाइयां पूरे जोर के साथ दब गयीं। एक हल्की घुटी–सी आवाज हुई।'' (शुरुआत तथा अन्य कहानियां : जगदम्बा प्रसाद दीक्षित; संभावना प्रकाशन, हापुड़; 1980; पृ. 74) स्पष्टतः मैकू, बुढ़िया भिखारिन की गला घोंटकर हत्या कर देता है। ए. ओ. लवजॉय इस प्रकार के चरित्रों के जिस अमानवीय व्यवहार की तरफ संकेत करते हैं, वह यहाँ साफ दिखलाई पड़ता है। कहना न होगा कि समकालीन समाज के दबाव ने व्यक्ति और समाज को इस कदर अमानवीय बना दिया है कि एक मुनष्य दूसरे के साथ सद्भाव के साथ नहीं रह सकता है। यह नैतिकता या सामाजिकता से मुक्त भारतीय समाज है या समकालीन आर्थिक एवं सामाजिक दबाव से निर्मित पागलपन अथवा भिक्षावृत्ति का शिकार कोई असामान्य हाशिये का चरित्र – कुछ भी साफ–साफ कहना मुश्किल है। यद्यपि प्रेमचंद की 'कफन' जैसी कहानी में भी इस प्रकार के चरित्र हैं, परंतु समकालीन कहानी में ऐसे चरित्रों की भरमार है। इसीलिए इस प्रकार की कहानियाँ अलग से विचार करने की मांग करती हैं। यह समकालीन कहानी की विशेषता भी है और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति भी।

20.4.6 अप्रवासी समाज

समकालीन हिंदी कहानी में दो तरह के अप्रवासी समाज का उल्लेख दिखलाई पड़ता है – एक वह अप्रवासी समाज जिनके पूर्वजों को मजदूर के रूप में कई शताब्दियों पूर्व उपनिवेशवादियों द्वारा खेतों में काम करने के लिए जबरन या लालच देकर देश के बाहर मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनीडाड, ग्याना आदि देशों में ले जाया गया तथा जिनसे दासों जैसा कार्य लिया गया और जब 1834 ई. में दास प्रथा समाप्त हो गई तब 'शर्त–बंद' प्रथा के तहत उनसे अमानवीय स्तर पर काम करवाया गया तथा दो, वह प्रवासी समाज जो बेहतर ज़िंदगी की तलाश में मुख्यतः आजादी के बाद देश से बाहर काम करने गये तथा वापस एक बेहतर जिंदगी की आशा में उन्हीं देशों में बस गये। वापस नहीं लौट पाये। इनमें दूसरी तरह के लोगों ने भी प्रवास के दौरान अकेलापन या बाहरी होने की जो पीड़ा सही, उसे लेखन के जरिये तरह–तरह से व्यक्त किया। ऐसे कहानीकारों में प्रेमलता वर्मा (एक स्विस डॉक्टर की मौत), लक्ष्मीधर मालवीय (छुट्टी का दिन) कृष्ण बिहारी (जड़ों से कटने पर), उषा प्रियवंदा (शून्य) उमेश अग्निहोत्री (हैप्पी न्यू इयर), अचला शर्मा (बेघर), उषा राजे सक्सेना (एक मुलाकात), दिव्या माथुर (फिर कभी सही), तेजेंद्र शर्मा (अभिशप्त), सत्येन्द्र श्रीवास्तव (एक निरर्थक दिन की कथा), मोहन राणा (बुधवार की छुट्टी) पद्मेश गुप्त (डेड एंड), उषा वर्मा (इदस बार कहानी), अमित जोशी (वीज़ा) आदि ने प्रवासी जीवन के अनुभव, विचार, अकेलेपन आदि की त्रासदी, भारतीय संस्कृति के समानांतर नयी संस्कृति से अपने टकराव, नयी पीढ़ी की चुनौतियां, बुढ़ापा और देश न लौट पाने की पीड़ा आदि का मार्मिक चित्रण किया है। इन कहानीकारों की रचनाओं से समकालीन हिंदी भाषा और कहानी के वैश्विक फलक का विस्तार हुआ है। परंतु, वास्तविक अप्रवासी लेखन और उसमें आया समाज वह है जो पहले तो दास बनकर पानी के जहाजों में कई सदी पूर्व देश के बाहर गया और बाद में शर्तबंद प्रथा के तहत मजदूर (कुली) बनकर कार्य करने को विवश होते रहा। शर्तबंद प्रथा के तहत मजदूरी की अवधि समाप्त होने के बाद चाहकर भी वह देश वापस नहीं लौट पाया। वही की जमीन पर बस गया और दासों की तरह सदियों तक जिंदगी व्यतीत करता रहा। इस प्रकार के आप्रवासी समाज की पीड़ा ओर अनुभव, दूसरी तरह के प्रवासी समाज से बिल्कुल भिन्न है और आज भी कुछ ऐसे लोग और परिवार हैं, जो मॉरीशस, सूरीनाम, फीज़ी, ग्याना, त्रिनीडाड आदि देशों में आम आदमी की ज़िंदगी व्यतीत करने को विवश है। जीवन–यापन के लिए इस प्रकार के समाज ने ऐतिहासिक उत्पीड़न का दर्द सहा है, रात–रात भर परिजनों से बिछुड़ने के गम में आंसू बहाये है और दिन में मालिकों के खेतों में काम करते हुए कोड़ों की मार से पीठ का खून। जब सदियों बीत जाने के बाद वे देश उपनिवेशवाद से मुक्त हुए तथा नई सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था में उनके बच्चों ने सांसें लीं, पढ़ा–लिखा, तब उनका दर्द शब्दों के माध्यम से लेखन की दुनिया में आया। मॉरीशस के चर्चित कथाकार अभिमन्यु अनंत के उपन्यास 'लाल पसीना' और रामदेव धुरंधर के 'पथरीला सोना' सहित अनेक रचनाओं में मॉरीशस के अप्रवासी समाज के उत्पीड़न के ऐतिहासिक विवरणें में देखा जा सकता है जो 1968 ई. में मॉरीशस की आजादी के बाद व्यवस्थित रूप से आना शुरू हुआ। स्वाधीनता के बाद लेखकों ने खुलकर अपनी आजादी का इतिहास और समकालीन ज़िंदगी का यथार्थ लिखा।

पर, सवाल है, समकालीन कहानी में अप्रवासी समाज की उपस्थिति कैसी है? उनके सवाल क्या है ? उनमें उनका कौन–सा सामाजिक यथार्थ अभिव्यक्त हो रहा है ? उसकी वास्तविक पीड़ा क्या है ? वहाँ स्त्रियों की जिंदगी कैसी है ? ये कुछ ऐसे सवाल और

संदर्भ है जिनको ध्यान में रखते हुए समकालीन कहानी में आप्रवासी समाज के सवालों को ढूँढ़ा जा सकता है।

दरअसल अभिमन्यु अनंत और रामदेव धुरंधर के समानांतर जिन अप्रवासी लेखकों ने कहानियों के माध्यम से अप्रवासी समाज के अनुभव और यथार्थ का चित्रण किया है, वह उत्पीड़ित समाज के उन्हीं मुश्किल भरे जीवन–संघर्षों की ओर संकेत हैं, जिससे आज का समकालीन समाज गुजर रहा है। चाहे वह मुख्यधारा के समाज द्वारा उनके साथ किया गया अमानवीय व्यवहार हो या भूखे पेट दिन–रात काम करने की व्यथा, विकास की दौड़ में उपेक्षित अलग–थलग पड़ते जाने की पीड़ा हो या एक स्त्री होने की विडंबना के कारण शोषित होने का दर्द अथवा अपने देश तथा लोगों से अलग होने का संवेदनात्मक विछोह; ये कुछ ऐसे सवाल और संदर्भ हैं जो समकालीन कहानी को अप्रवासी लेखन के जरिये समृद्ध बनाते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आप्रवासी समाज पर केंद्रित कहानियाँ हमें उस वृहत्तर समाज, उसकी सोच, आर्थिक विवशता, सांस्कृतिक अस्मिता, अलगाव और इन सबकी रक्षा के लिए किये गये संघर्षों से जोड़ती हैं जिसे कई बार इतिहासकार या समाजशास्त्री महत्त्वहीन मानकर छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए, अभिमन्यु अनंत की कहानी 'कोलाहल', रामदेव धुरंधर की 'विष मंथन', पूजानंद नेमा की 'पराजय', भानुमति नागदान की 'जय दुर्गे', जयदत्त जीऊत की 'गिरवी रखी आत्मा', दीपचंद बिहारी की 'गुरुजी', मुनीश्वरलाल चिन्तामणि की 'कांटों पर चलते हुए', बीवी साहेबा फ़र्जली की 'बेबसी', धर्मवीर धूरा की 'चिल्लाहट', पुष्पा बम्मी की 'ए.के. सीस–साँ', हेमराज सुंदर की 'आस्था', प्रो. सुब्रह्मण्यम की 'बताओ, ट्रेन कहां जाती है', सूर्यप्रसाद बीरे की 'लक्ष्मी का देश' आदि कहानियों में अप्रवासी समाज के उत्पीड़न के इतिहास को पढ़ा जा सकता है। इन कहानियों में जहां 'कोलाहल' में मुक्ति के मायने को लेकर अंतर्द्वन्द्व हैं, वहां 'विष मंथन' में एक मजदूर स्त्री की विंडबनापूर्ण जिंदगी का यथार्थ; 'जय दुर्गे' में बदहाल जिंदगी व्यतीत कर रहे गिरमिटिया मजूदरों के जीवन–संघर्ष का दस्तावेज है तो 'गुरुजी' में भारतीय मूल के मजदूरों के प्रतिरोध का बयान; 'कांटों पर चलते हुए' में जहाँ अप्रवासी लोगों की अस्मिता और उनके दुःख का हाल दर्ज है, वहां 'लक्ष्मी का देश' में मजदूरों के शारीरिक और सांस्कृतिक उत्पीड़न का प्रतिरोधात्मक इतिहास दिखाया गया है। उदाहरण के लिए मुनीश्वरलाल चिंतामणि की कहानी में एक अप्रवासी मजदूर का आया निम्न परिचय अप्रवासी समाज की उस पीड़ा का बयान करता है जिसे वे आज भी अपने साथ लिये चलते हैं : ''जिला – आरा। परगना – समराऊ। गाँव – राजपुर। नं. 1025। नाम – जतन।'' (मॉरीशस की हिंदी कहानियाँ : सं. कमलकिशोर गोयनका; साहित्य अकादमी, दिल्ली; 2000; पृ. 222)

इसी प्रकार, सूरीनाम के कहानीकार सूर्यप्रसाद बीरे की कहानी 'लक्ष्मी का देश' में अप्रवासी मजदूरों की उस पीड़ा का बयान है जिसे वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और संघर्ष से जोड़कर देखते हैं। देखें, ''मैंने एक बार नास्तिकों के यज्ञ के बारे में पढ़ा था, जिसमें एक कैदी का जीवन नष्ट कर दिया जाता है अपनी जाति का जीवन बचाने के लिए और वे ईख के मजदूर भी नास्तिक है...।'' (विश्व हिन्दी रचना; सांतवा विश्व हिंदी सम्मेलन–2003, सूरीनाम; भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, दिल्ली; पृ. 172)

स्पष्टतः इस कहानी में अप्रवासी मजदूरों की उस ज़िंदगी और संघर्ष का बयान है जिसे वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता बचाने के लिए रचते हैं। अप्रवासी समाज पर केंद्रित कहानियाँ भी आर्थिक एवं सामाजिक यथार्थ के साथ–साथ अप्रवासी लेखन के इन्हीं संघर्षों का जीवंत चित्रण करती हैं, उनका अलगाव बोध; अपनी पुरानी जमीन से और जड़

से; जहाँ से सदियों पहले वे चले आये थे और नयी जगह पर लंबे समय तक व्यवस्थित नहीं हो पाने के कारण हाशिये की ज़िंदगी व्यतीत करते रहे। ज़िंदगी के इस कड़वे यथार्थ को यह अप्रवासी समाज आज भी एक ऐतिहासिक सच के रूप में साथ–साथ लिये चलता है। कहीं यह अलगाव आर्थिक है तो बहुलांश में सांस्कृतिक – जो उन समाजों की अब एक स्थायी हकीकत बन चुकी है। अलगाव की यह आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्मृतियाँ तथा चिह्न उन्हें बार–बार इतिहास के साथ संवाद करने के लिये बाध्य करता है जिसे समझना एवं महसूस करना जरूरी है।

20.4.7 अल्पसंख्यक समाज

दरअसल 'संस्कृति' किसी भी देश के समाज और उसके भूगोल की एक विशिष्ट पहचान होती है, लेकिन कई बार जब यह धर्म और सत्ता से जुड़ जाती है, तब एक वीभत्स रूप ले लेती है। वह उस देश के इतिहास का सबसे कठिन दौर होता है जब सांस्कृतिक अस्मिताएं, धर्मसत्ता से जुड़कर सांप्रदायिक–संघर्ष में तब्दील हो जाती हैं। यद्यपि संप्रदायवाद किसी भी समाज की संस्कृति, धर्म, दर्शन विचारधारा आदि को समझने में मदद करता है लेकिन जब हम सांप्रदायिकता कहते हैं तो उसका अर्थ है संप्रदायों में बंटा समाज जिनके हित न सिर्फ अलग अलग होते है अपितु एक–दूसरे के विरोधी भी। इतिहासकार विपिन चंद्र मानते हैं कि 1937 ई. के बाद सांप्रदायिकता का जो दौर शुरू हुआ वह झूठ, हिंसा और घृणा पर आधारित था। इसलिए 1947 में देश के विभाजन के समय सांप्रदायिक दंगे हुए। यह हालात स्वाधीनता के बाद भी देश में बनी रही। समकालीन हिंदी कहानी में सांप्रदायिकता का जो रूप दिखलाई पड़ता है, वह बने रहे है जो 1947 में देश विभाजन के समय अज्ञेय, रामलाल, महीप सिंह और भीष्म साहनी जैसे कहानीकारों की कहानियों में दिखलाई पड़ता है। उसमें हिंसक दंगों में समाज राजनीति से दूर था। सांझी संस्कृति को बचाने की उसकी चिंता गहरी थी। परंतु, 1981 के बाद हुई सांप्रदायिक हिंसा, 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या और 1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वंस की घटना ने सांप्रदायिकता के स्वरूप एवं विचार को बदलकर रख दिया तथा धीरे–धीरे एक ऐसे समाज को निर्मित करना शुरू किया जहां मनुष्य ने सांप्रदायिक कारणों से एक अलग प्रकार की जिंदगी व्यतीत करना शुरू कर दिया। सांझी संस्कृति और विरासत की बात करना लोग भूलते गये। यद्यपि 1961 में स्थापित 'राष्ट्रीय समन्वय परिषद' ने सांप्रदायिकता के उभार को रोकने की कुछ कोशिशें कीं; पर उसका कोई बड़ा असर नहीं हुआ। समकालीन राजनीति ने सांप्रदायिकता के उभार को और अधिक राजनीतिक बनाया जिसका असर आम लोगों पर भी पड़ा। यह असर इतना गहरा था कि वह आम आदमी जो कभी सांझी संस्कृति और विरासत का हिमायती था, भयभीत होकर, धीरे–धीरे उस सांप्रदायिक राजनीति का हिस्सा बनता गया जिसने सामाजिक संबंधों को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाया। परिणामतः लोग एक–दूसरे से दूर होते गये। ऐसा इसलिए भी हुआ कि सांप्रदायिकता के उभार की प्रक्रिया में धार्मिक अल्पसंख्यकों को भेद–भाव के साथ ही कई तरह के भय एवं चिंताओं ने परेशान करना शुरू कर दिया। परिणामतः अल्पसंख्यक समाज धीरे–धीरे फिरकापरस्त नेताओं के हाथों में आता गया। इसे धार्मिक संकीर्णता, धर्मांधता और रूढ़िवादिता ने और प्रोत्साहित किया। खासकर, 1992 तक आते–आते यह और गहराता गया। जिसका नतीजा बाबरी मस्जिद के ध्वंस के रूप में देखा गया। समकालीन लेखकों ने इन प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं को ठीक से पकड़ा तथा उसे लेखन का हिस्सा बनाया। प्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश ने 'पार्टीशन– कहानी में कुर्बान भाई जैसे एक आम आदमी के धीरे–धीरे सांप्रदायिक व्यक्ति के रूप में तब्दील होने की प्रक्रिया को गहराई से दिखाते हुए लिखा है कि ''–और वह शुक्रवार का

दिन था – मैंने देखा कि कुर्बान भाई की दुकान के सामने लतीफ भाई खड़े हैं...। और कुर्बान भाई दुकान में ताला लगा रहे हैं।... और उन्होंने टोपी पहन रखी है... और फिर दोनों मस्जिद की तरफ चल दिये।'' (श्रेष्ठ हिंदी कहानियां : सं0 लीलाधर मंडलोई, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली; 2010 ई; पृ. 64)

ये वही कुर्बान भाई हैं, जिनकी दुकान एक समय पढ़े–लिखों का अड्डा थी। जहाँ ग्राहकी भी चलती रहती और बहसें तथा ठहाके भी होते रहते। लगता ही नहीं था कि वह किसी खास संप्रदाय के व्यक्ति की दुकान है। लेकिन समय ने पलटा खाया और कुर्बान 'भाई', भाई से 'कुर्बान मियां' हो गये। यह कहानी एक सरल और सामान्य आदमी के एक खास संप्रदाय में रूपांतरित होने की उस मार्मिक पीड़ा का बयान करती है जिसकी तरफ इशारा करते हुए कथा आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी 'जन्मजात भय', 'सामाजिक भय' और 'ऐतिहासिक भय' जैसे शब्दों की चर्चा करते हैं। वह मानते हैं कि कई बार इस प्रकार के 'भय' इतिहास के अंतिम सत्य बनकर रचनात्मक संवेदना में इस प्रकार घुलमिल जाते हैं कि वह अल्पसंख्यक समाज का अहम हिस्सा बन जाते हैं।

दरअसल समकालीन हिंदी कहानी में सांप्रदायिक हिंसा को कथा का हिस्सा बनाने के बहाने कहानीकारों ने पाठकों को उस सामाजिक एवं वैचारिक सत्य का अहसास कराया है जिसे हम स्वीकारना नहीं चाहते। यह सत्य है, सांप्रदायिक हिंसा का धीरे–धीरे सामाजिक विचारधाराओं में रूपांतरित होने का। इसमें उस सांप्रदायिक राजनीति की सबसे बड़ी भूमिका होती है जो देश में जनतांत्रिक सत्ता की बजाय, सांस्कृतिक राष्ट्रवादी सत्ता स्थापित करना चाहती है जिसकी तरफ उदय प्रकाश अपनी कहानी 'और अंत में प्रार्थना' में संकेत करते हैं। शिवमूर्ति की 'त्रिशूल', अवधेश प्रीत की 'बशारत मंजिल' और शमोएल अहमद की 'सिंघारदान' जैसी कहानियाँ इस सांप्रदायिक हिंसा और भय के विस्तार का वर्णन करती हैं। इसी प्रकार अरूण प्रकाश की कहानी 'भैया एक्सप्रेस' में भी सांप्रदायिकता के कारण पंजाब में काम कर रहे मजदूर के अंदर व्याप्त इस भय का प्रभाव देखा जा सकता है। गीतांजलि श्री भी 'अनुगूंज' में सांप्रदायिकता के कारण निर्मित मनःस्थिति का गहरा चित्रण करती हैं। इसका प्रभाव सबसे अधिक अल्पसंख्यक समाज पर पड़ता है तथा वह 'डर' और 'भय' के कारण धीरे–धीरे उस सांप्रदायिक विचार का हिस्सा बनता जाता है जो धार्मिक संकीर्णता, धर्मांधता और रूढ़िवादिता के कारण पैदा होती है। समकालीन कहानी में समकालीन समय के इस सबसे बड़े सच का गहरा यथार्थ बोध दिखलाई पड़ता है। ये कहानियाँ पाठकों के अंदर उस गहरे विवेक को जाग्रत करती हैं जो हमें यह सबक देता है कि किस तरह संकीर्ण सांप्रदायिक राजनीति के कारण हमने मनुष्यता के इतिहास को कलंकित किया है। हमने सबक लेने की बजाय मनुष्य और उसकी सामाजिकता में दूरियाँ बढ़ाई हैं।

20.4.8 भूमंडलीकरण, बाजारवाद और नयी सदी का भारतीय समाज

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में उदासीकरण और भूमंडलीकरण ने समकालीन समय और समाज को गहराई के साथ प्रभावित किया। इसे आखिरी दशक के रचनाकारों ने गंभीरता के साथ अपनी रचनाओं में उठाया है। इन प्रक्रियाओं के कारण भारतीय समाज एवं व्यवस्था में जो परिवर्तन आया, उसके अनेक तत्कालीन एवं ऐतिहासिक कारण थे; परंतु भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने उसे एक निश्चित दिशा देने में अहम भूमिका निभाई। वह दिशा क्या थी, उसके परिणाम कैसे थे, सत्ता एवं व्यवस्था के साथ उसके रिश्ते कैसे बने – ऐसी अनेक बातें उभरकर सामने आयीं। परंतु जो प्रभाव पड़ा वह साफ–साफ दिखलाई पड़ रहा था। उन प्रभावों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है :

एक

भूमंडलीकरण ने वित्तीय बाजार का विस्तार किया एवं बाजार, व्यापार, उद्योग, व्यवसाय आदि में सत्ता के हस्तक्षेप एवं भौगोलिकता की सीमा को समाप्त करने की मांग की।

दो.

इसने सांस्कृतिक अस्मितावादी आंदोलनों को ताकत प्रदान किया जिससे कि असमानता को दूर किया जा सके। इससे लोक समाज में मजबूती आयी।

तीन

बाजारवाद के बढ़ने से दूर तक देशों में एक सरीखे उपभोक्ता माल की भरमार हुई। विज्ञापन का बाजार बढ़ा। प्रत्येक वस्तु चाहे वह संस्कृति ही क्यों न हो, बाजार का हिस्सा होती गयी।

चार

इन स्थितियों ने भारतीय समाज के अंदर तक एक भिन्न प्रकार की चेतना का विकास किया, जिसे कुछ लोग उत्तर आधुनिक समाज के रूप में देखते हैं। विकास, बाजारवाद आदि कारणों से लोगों की ज़िंदगी में बदलाव आया। अकेलापन बढ़ा तथा आर्थिक अलगाव ने सामाजिक संबंधों को प्रभावित करना शुरू कर दिया। खेती की ज़मीनों के अधिग्रहण और वित्तीय बाजार का हिस्सा बनने के कारण गाँवों में परिवर्तन हुए। कृषि–संस्कृति के बाजारीकरण के चलते लोगों के आपसी संबंध बदले।

पांच

श्रम का भी भूमंडलीकरण हुआ। इससे मजदूरों में असमानता बढ़ी। श्रम में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी। शहरी क्षेत्र में उन पर बंदिशें कम हुईं।

दरअसल समकालीन समय में आये परिवर्तन की ओर विकास की इन प्रक्रियाओं ने साहित्य–विचारकों को गहराई के साथ प्रभावित किया। लेखक समाज का एक अहम हिस्सा होता है। इसीलिए सामाजिक संबंधों और व्यक्ति–व्यक्ति के बीच के संबंधों में आये परिवर्तनों को रचनाकारों ने सबसे अधिक महसूस किया। खासकर इन प्रक्रियाओं के कारण व्यक्ति का 'मन' (Mind) बदला, मन ने विचार बदले तथा एक ऐसी समानांतर धारा का निर्माण किया कि परंपरा के साथ द्वंद्वात्मक रूप से विचार मंथन करना नया समाज भूमंडलीकरण एवं बाज़ारवाद के समर्थन–विरोध से टकराता हुआ एक ऐसी स्थिति में आ पहुंचा जहां उनके पास उन्मुक्त विकास के बड़े–बड़े सपने थे। उसे बताया गया कि वह इन सपनों को जी सकता है, बशर्तें साहस करें। पर उसे यह नहीं बताया गया कि उसके जो आर्थिक स्रोत है, वह यथार्थ के धरातल पर सीमित है तथा उसे उन्हीं सीमित संसाधनों में सपने पूरे करने हैं। शायद इसी कारण, विचारक मार्शल मैक्लूहान ने जिस 'विश्वग्राम' की धारणा को नयी सदी के विकास एवं निर्माण के रूप में देखा उसे प्रगतिशील लेखकों ने नयी सदी का एक बड़ा 'छलावा' बताया जहां, प्रसिद्ध विचारक जेम्स एचं मिटलमैन ने 1994 में थर्ल्ड वल्ड क्वाटरली' में प्रकाशित लेख 'द ग्लोबलाइजेशन चैलेंज : सर्वाशिविंग एट द मार्जिन' में बताया कि मनुष्य वित्तीय बाजर का हिस्सा होकर मानवीय संस्कृति और परंपराओं से कटकर धीरे–धीरे बाजार का हिस्सा बनता जा रहा है। यद्यपि इन प्रक्रियाओं से लोगों की आमदनी बढ़ी, जीवन–स्तर, दूरदर्शन, इंटरनेट,

मोबाईल, फ्रिज आदि जैसे तकनीक से जुड़कर और अधिक सरल तथा सुविधाजनक हुआ, स्वास्थ्य जैसे सेवाओं में सुधार हुआ; लेकिन इनमें व्यक्ति और समुदायों की 'आय' का एक बड़ा हिस्सा इस गतिशील वित्तीय बाजार का मुख्य स्रोत बना एवं निजीकरण की प्रक्रियाओं ने देश और समाज को आत्मनिर्भरता के स्तर पर कमजोर बनाया। उदाहरण के लिए 'पानी' जो एक सर्वसुलभ चीज थी, आज इन प्रक्रियाओं के कारण बड़े 'बाजार' का हिस्सा बन गयी है जिसे 'स्वास्थ्य' के नाम पर खरीदा और बेचा जा रहा है। इसी प्रकार उससे अमीरी और गरीबी के बीच जो खाई बढ़ी है – उसमें गरीबी और गरीब तथा आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया में 'सक्षम सहभागी' न होने के कारण क्रूर मजाक का हिस्सा बनता गया। वित्तीय बाजार के इस प्रभाव का समकालीन हिंदी के दो चर्चित कहानीकार पंकज बिष्ट और उदय प्रकाश की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते। एवं 'पाल गोमरा का स्कूटर' जैसी कहानियाँ भूमंडलीकरण के वित्तीय बाजार द्वारा निर्मित रिश्तों में समान खरीदने और फिर उसे ई.एम.आई. के जरिये एक निर्धारित अवधि तक चुकाने की स्थिति का मार्मिक चित्रण करती है। खास बात यह है कि वित्तीय बाजार के जटिल यथार्थ का बयान करती ये दोनों कहानियाँ मानवीय जीवन और व्यवहार में संरचनात्मक स्तर पर आये बदलाव और आम आदमी के धीरे–धीरे टूटने एवं अलग–थलग पड़ने का जो चित्र उपस्थित करती है, वह आज की ज़िंदगी की सबसे बड़ी त्रासदी है। इनमें पंकज बिष्ट की कहानी का नायक बिशन जहां विज्ञापन एवं उपभोक्तावादी बाजार के षड्यंत्र और भय का शिकार होकर मृतप्राय है, वहां उदय प्रकाश का नायक पाल गोमरा स्कूटर न चला पाने के कारण अंतहीन जड़ता का शिकार है उसका पागलपन देखें :

एक

पर परदे से बाहर जो हो रहा था, वह अविश्वसनीय था। रघुवा देखा रहा था, किसी फिल्म के स्लो मोशन शॉट की तरह अपनी पूरी विकरालता और बारीकी से उसके पापा बिशनदत्त अपनी धरती दबाये हुए सेमल के फूल के रुओं से हवा में थोड़ा–सा उछले थे और उसके बाद धप्प से फर्श पर औंधे मुंह जा पड़े थे।

(समकालीन परिभाषा, पृ. 60)

दो

दिल्ली के अत्यंत नगण्य और स्कूटर तक चलाना न जाननेवाले पॉल गोमरा को लगता कि वे किसी कब्र के भीतर सो रहे हैं और उनके मस्तिष्क के ठीक ऊपर लोहे की पटरियाँ बिछा दी गई है। जिन पर शताब्दी मेल धड़धड़ाती हुई दौड़ती जा रही है।

एक के बाद एक डिब्बे। अंतहीन।

(पॉल गोमरा का स्कूटर : उदय प्रकाश, पृ. 74)

स्पष्टतः दोनों कहानियाँ नयी आर्थिक व्यवस्था में आम आदमी के टूटने एवं उसके लोगों से अलग–थलग पड़ने के यथार्थ को चित्रण करती है; परंतु दोनों में मनुष्य के इस स्थिति तक आने का कारण एक ही है; और वह है, बाजार द्वारा मनुष्य को उपभोक्तावादी समाज में तब्दील करना उसे अपना हिस्सा बनाना!

वास्तव में, भूमंडलीकरण और उसके तहत निर्मित बाजार ने पिछली एक–दो सदी में एक ऐसे समाज को जन्म दिया जिसे उत्तर आधुनिक समाज या नयी सदी का भारतीय समाज

कहा जा सकता है। यह समाज विकास की नयी प्रक्रियाओं और भूमंडलीकरण की ऊपज है और इसका तंत्र इतना जटिल है कि आम आदमी और जीवन कब उसका हिस्सा बन गये यह पता ही नहीं चला। कुछ इसे क्रिकेट जैसे खेलों के वैश्विक स्तर पर बाजार का हिस्सा होने का कारण मानते हैं तो कुछ कालाधन का नयी पूंजी एवं उत्पादन का तगड़ा हिस्सेदार होना; पर यह सच है कि कहीं–न–कहीं आर्थिक विकास की इन नयी अवधारणाओं ने इस नये समाज को रचने में मदद की है। बाजार ने इसे सजाया, संवारा और सहलाया है। हिंदी के समकालीन कहानीकारों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम यह किया कि विकास की इन प्रक्रियाओं से गुजर रहे समाज और उसमें मनुष्य के अलग–थलग पड़ने की पीड़ा एवं जिंदगी के उस मार्मिक यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की जो समाज वैज्ञानिकों से उनके वस्तुवादी नजरिये के कारण कई बार छूट जाती है। उदाहरण के लिए प्रेमकुमार मणि की 'खोज', हरि भटनागर की 'समीर और उसकी बस्ती के लोग', संजय खाती की 'पिंटी का साबुन', ओमा शर्मा की 'भविष्य द्रष्टा', राजकुमार राकेश की 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएं' आदि अथवा इस सदी के पहले दशक में स्थापित भूमंडलीकृत व्यापार और बड़े–बड़े मॉलों की चकाचौंध के पीछे गरीबों की धीरे–धीरे खत्म हो रही जिंदगी के यथार्थ को जितनी संजीदगी के साथ एकदम नये कहानीकारों ने हाल ही में प्रकाशित कहानियों में उठाया है, उसमें भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के प्रभाव में निर्मित हो रहे नयी सदी के भारतीय समाज के यथार्थ को आसानी से देखा एवं पहचाना जा सकता है। इनमें 'खोज' में एक ऐसे विकसित गाँव की कहानी है, जहाँ स्कूल, अस्पताल, घर और पुस्तकालय तो हैं पर मनुष्य, जानवर तथा परिंदा गायब है। इसी प्रकार 'भविष्यद्रष्टा' में जहाँ युवा पीढ़ी के सपने, विकास दी – स्कूलों की बहयों एवं यादों के बहाने बदलते हुए समय के नग्न–यथार्थ का चित्रण है, वहाँ 'पिंटी का साबुन' यथार्थ बोध है। इन सबके विपरीत 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएँ' में निजी ज़िंदगी में बाज़ारवाद के बढ़ते दखल का दर्दनाक चित्रण। यह दखल इतना गहरा है कि एक पत्नी, धीरे–धीरे दूसरी औरत में रूपांतरित होकर पहले पुरुष (पति) के होने के अर्थ को समाप्त कर देती है। कहानी का निम्नलिखित वाक्य, नयी आर्थिक व्यवस्था के इस गहरे यथार्थ–बोध की तरफ ही संकेत करता है : ''मिस्टर सर्वेकर आपके पड़ोसी है।.. . शाम को सर्वेकर ही उन्हें लेने आते थे। तभी से आपके यहां कार खरीदे जाने की बात चल रही है। जालान और सर्वेकर दोनों आपको कार खरीदवाना चाहते थे। सर्वेकर इज ए हैंडसम मैन। रियली मैनली हैंडसम!''

'सर्वेकर इज ए हैंडसम मैन! रियली मैनली हैंडसम!'' यहाँ 'रियली मैनली हैंडसम'' शब्द पर जोर दीजिए। यह इस नयी सदी के समाज की नयी भाषा है। अब पति की जगह पड़ोसी 'मैनली' और 'हैंडसम' लगता है। इसलिए कि पति के अंदर कार खरीदने की क्षमता नहीं है। वह व्यवस्था भी नहीं कर सकता। यानी कि आपको उपभोक्ता बनाने में मदद करें, बाजार का हिस्सा बनाये; वही सुंदर है वही यथार्थ है! प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक विचारक कांट से अलग जिसमें वह कहते हैं कि ''वही सुंदर है, जो अर्थ से अलग भी अच्छा लगे।'' अर्थात सुंदरता रूप में नहीं, बल्कि मनुष्य के मन में है, उसके होने में है। जब मनुष्य ही नहीं रहेगा, उसकी आत्मा ही नहीं बचेगी; तो फिर कैसी सुंदरता और क्यों ?

आज सुंदरता का अर्थ बदल गया है। भूमंडलीकरण के तहत विकसित वित्तीय बाजार का यह वही सच है जो पंकज बिष्ट के 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' के बिशन के टी.वी.; उदय प्रकाश की कहानी 'पाल गोमरा के स्कूटर' के स्कूटर से होते हुए अब राजकुमार राकेश की 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएं' के डिंगा सिंह की पत्नी के कारण तक आ पहुँची है। यहाँ बाज़ार सुंदरता को रच रहा है और वही लोगों को अब अच्छा भी लग

रहा है। नयी वित्तीय पूंजी के तहत निर्मित बाहर से चमचमाते हुए यह बाजार इस बात का अहसास भी करा रहा है कि अब अपनी चीजों पर आपका अधिकार समाप्त होने का समय आ गया है ! वह रागात्मक लगाव जो कभी अभाव में जीते पति–पत्नी का गोधूलि बेला में डूबते लाल–लाल सूर्य को देखने से होता था, अब भूमंडलीकृत समय में बाजार की चमक–दमक में होता है ! और उसके पीछे का जो अंधकार, सूनापन, अभाव है – वह तब दिखाई पड़ता है, जब आपके आर्थिक स्रोत समाप्त होने लगते हैं और आसपास के लोग साथ छोड़ने। कारण, बाजार तो बाजार है और वह 'मुद्रा'से चलता है ! कथा आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी समकालीन समय में व्याप्त जिस 'भय' की तरफ संकेत करते हैं (कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, पृ. 135); वह समकालीन समय में निर्मित उसी अलगाव, अजनबीपन, अनास्था, निराशा आदि स्थितियों की उपज है। यहां मनुष्य, मनुष्य नहीं रह गया है। अपितु, वह वस्तु में तब्दील हो गया है। समकालीन कहानी की यह वही विशेषता है जो समय के इस दबाव और संघर्ष की अभिव्यक्ति से उपजी है और साफ–साफ दिखलाई पड़ रही है। यद्यपि इस दौर में स्त्री, दलित और आदिवासी समाज जैसी अस्मिताओं को 'जगह' मिली है पर सच तो यह है कि उसमें 'मनुष्य' और उसकी 'मनुष्यता' के लिए बने–बनाये 'स्पेस' (जगह) भी अब गायब होते जा रहे हैं। समकालीन कहानीकारों ने मानवीय जीवन के इस यथार्थ को गहराई के साथ पकड़ते हुए रचना का विषय बनाया है। उसके लिए कथा की एक नयी भाषा ही नहीं गढ़ी है अपितु कथा कहने का अंदाज़ भी समकालीन कहानीकारों ने बदला है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है तथा इसी से समकालीन रचना और विचार की दुनिया में कहानी का महत्त्व यथावत् बना हुआ है।

20.5 समकालीन हिंदी कहानी : कला, भाषा और ज़िंदगी का यथार्थ

समकालीन हिंदी कहानी की एक खास विशेषता कला और भाषा का ज़िंदगी के यथार्थ के साथ गहरा संबंध भी है। गुजराती के प्रसिद्ध लेखक गिजुभाई बधेका ने 1923 में प्रकाशित 'कथा–कहानी का शास्त्र' में कहानी के शास्त्र पर विचार करते हुए कहा था कि ''लोगों की एक सामान्य धारणा होती है कि कहानी कहना तो बहुत आसान बात है, परंतु मेरी अपनी मान्यता यह है कि अच्छे–अच्छे शिक्षकों तक को कहानी कहना नहीं आती।... कहानी कहने में शब्दों का चयन, शब्द–संतुलन, शब्दों की यथार्थता जिस प्रकार कहानी का कारीगरी विभाग है, उसी प्रकार किस वस्तु को किस जगह रखें, किस रस को कितना विकास दें, विषयांतर को कितना महत्त्व दें आदि बातें कला–पक्ष में समाहित हे।'' (कथा–कहानी का शास्त्र; सर्जना, बीकानेर; नया संस्करण : 2008; पृ. 113–114)

अर्थात् कहानी में शब्द की व्यवस्था और वस्तुगत् यथार्थ के साथ उनके संबंध – कहानी कला का अहम हिस्सा है यानी कि कहानी ज़िंदगी के यथार्थ के करीब होने के कारण पाठक के अधिक करीब पहुँचती है। प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद कहानी के बारे में कहते कि ''कहानी सदैव से जीवन से जीवन का एक अंग रही है।... साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊंचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव–फिराव के आत्मा के किसी भाव को प्रकट कर देती है।'' (साहित्य का उद्‌देश्य; हंस प्रकाशन, इलावाद; 2001' पृ. 45,57) अर्थात् अच्छी कहानी वह होती है, जिसमें कथाकार जीवन के यथार्थ को पाठकों के सामने साफ–साफ रख देता है। कैसे ? प्रेमचंद लिखते हैं कि वैसे ही जैसा कि आईना हमारे जीवन का एकदम सच प्रतिबिम्ब रख देता हे। अर्थात्, पाठक कहानी में ''उसके एक–एक वाक्य को, एक–एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं।'' (साहित्य का उद्‌देश्य; हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; 2001' पृ. 59) प्रसिद्ध रूसी कथाकार मैक्सिम

गोर्की ने भी 'मैंने लिखना कैसे सीखा' में लिखा है कि साहित्य में हम ''लोगों तथा उनकी जीवन–स्थितियों का ऐसा सच्चा चित्रण'' करते हैं ''जिसमें रंग–रोगन न लगाया गया हो।'' (लेखन कला और रचना कौशल; पृ. 10) अर्थात् कहानी लेखन की पहली शर्त है कहानी में शब्दों और वाक्यों के ज़रिये जीवन का यथार्थ का चित्रण बिना घुमाव–फिराव के। पात्र, उनके भाव, भाषा आदि का एकदम यथार्थ चित्रण यानी कि कहानी में जैसे पात्र हो, वैसी ही उनकी भाषा। यहाँ तक कि जीवन–स्थितियों का एकदम सच्चा चित्रण। गोर्की के शब्दों में "बिना रंग–रोगन के"।

यदि हम समकालीन हिंदी कहानी के रचना–विधान को देखें तो साफ पता चलता है कि कहानीकारों ने समकालीन ज़िंदगी के यथार्थ का चित्रण करते हुए कहानी की रचना का जो विधान किया है उसमें उनकी भाषा और वाक्य रचना... ज़िंदगी के यथार्थ के अत्यतं करीब है। वहाँ बौद्धिकता का आग्रह भी है लेकिन इस तरह से कि वह कहानी कला का अहम हिस्सा लगे। विचार भी उन कहानियों में ऐसे आये जैसे कि उस पात्र की जिंदगी का अहम हिस्सा है और अगर वे नहीं होते तो कहानी किसी और दौर की लगती। सबसे बड़ी बात यह है कि रचनाकारों ने इस दौर की कहानियों में सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध का जो शास्त्र रचा है वह इस दौर की कहानियों की भाषा और संरचना के स्तर पर समाज का हिस्सा लगता है। लगता है कि ज़िंदगी की भाषा और जीवन जीने की कला का जितना यथार्थ समन्वय इस दौर के कहानीकारों ने किया है वह नयी और प्रेमचंद युग की कहानियों में भी नहीं दिखलाई पड़ता है। यहाँ सामाजिक आंदोलनों से प्रभावित जो समाज, उसकी संवेदना है, वह सामाजिक परिवर्तन और विकास की उन प्रक्रियाओं की तरफ संकेत करता है जिनसे रचना की दुनिया का विस्तार होता है। हाशिये के समाज की पहचान बनती है। उदाहरण के लिए, इस दौर के कहानीकारों ने ज़िंदगी के यथार्थ का बयान करने के लिए जिस भाषा को रचा है उसे देखकर पता चलता है कि भाषा केवल भावों और विचारों को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि वह पाठकों को समकालीन समय के दबाव, भय और उसके निहितार्थ का बोध भी कराती है। उनमें इतने तरह के संकेत, संदेश प्रक्रियाएँ है कि पाठक को जब इस बात का अहसास होता है तब वह चकित हो उठता है कि क्या भाषा और उसमें आये संकेत जीवन के यथार्थ का इस हद तक चित्र उपस्थित करते हैं कि वह जीवन को समझने का जरिया बन जाता है। इसे हम अरूण प्रकाश की कहानी 'भैया एक्सप्रेस' के निम्नलिखित संवाद के ज़रिये समझ सकते हैं –

माई भी रोज उससे पंजाब के बारे में पूछती थी।

''रोटी खाने, भात नई मिलै छौं ?''

''माई, ऊ लोग सब खाना के रोटी कहै छै। ई बड़का गिलास में चाह ! ओहन चाद हियां कहा ?

''मर सरधुआ ! चाह त हियै बनबे करेइ छै !''

नइगे माई, ऊ सब बनिहार वाला चाह में हफीम के पानी मिलाय दै छै। वैइसे थकनी हेंठ भे जाई छै ।''

''कत्ते देर का करै छहि ?''

''सात बजे भोर सै छ बज साँझ तक। बीच में रोटी खाइके छुट्टी – एक घटा।''

''तब तो हियौं के मालिक से चंडाल मालिक छौ !... किरन डूबलाक बाद ?''

(भैया एक्सप्रेस : अरूण प्रकाश, पृ. 24)

'भैया एक्सप्रेस' के इस लंबे उद्धरण में हिंदी और उसकी क्षेत्रीय बोली मैथिली के क्रियापद से प्रभावित शब्द और वाक्य है। इन अंशों को पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि कहानी की भाषा और कला के स्तर पर कहानीकार क्या कहना चाहता है। अगर हम इनका विश्लेषण करें तो निम्नलिखित बातें सामने आती हैं :

एक

माँ—बेटे के संवाद से पता चलता है कि बेटा मजदूर है तथा पूरा वार्तालाप संबंधित समाज की भाषा में है। यानी की पूर्वी—उत्तरी बिहार की वह भाषा—बोली जिस पर मैथिली के क्रियापद का प्रभाव है अर्थात् मजदूर समाज अपनी मातृभाषा में ही वार्तालाप करता है। इसलिए कहानीकार ने कहानी के यथार्थ बोध को जीवंत बनाये रखने के लिये लोकभाषा के मिश्रण का उपयोग किया है। इसका अर्थ यह भी निकलता है कि समकालीन कहानी में वातावरण भी जीवंतता को बनाये रखने के लिये कहानीकारों ने हिंदी के साथ—साथ क्षेत्रीय भाषा का उपयोग किया है।

दो

इस क्षेत्रीय भाषा के अध्ययन से पता चलता है कि संवाद करने वाले दोनों पात्र — जिनमें एक माँ और दूसरा पुत्र — पढ़े—लिखे नहीं है।

तीन

यह संवाद यह भी बतलाता है कि मजदूर समाज क्या खाते और पीते हैं और मालिक उनसे अधिक काम के लिए खान—पान में किन तत्त्वों का मिश्रण करता है। जैसे, इस कहानी में इस बात का उल्लेख है कि दूसरे क्षेत्र के मालिक बाहर से आये मजदूरों के चाय में अफीम मिला देते हैं ताकि वे अधिक देर तक काम कर सकें। मजदूर यह बात अपनी माँ को उत्साह में बताता है कि उन्हें मुफ्त में 'हफीम' भी मिल जाती है। उन्हें बीड़ी—सिगरेट नहीं खरीदना पड़ता है। परंतु, एक माँ को यह अजीब लगता है तथा वह निष्कर्ष निकालती है कि बाहर के मालिक की तुलना में स्थानीय मालिक कितना भला है। वह कहती है कि ''हिया के मालिक से चांडाल मालिक छौ !''

चार

संवाद का अंतिम हिस्सा एक संकेत है। इस संकेत को खोले तो भाषा की यह संरचना ज़िंदगी के उस यथार्थ को सामने लाती है जिससे पता चलता है कि एक माँ को अपने बेटे की कितनी चिंता है। यह कहानीकार की कहानी कला है कि जिंदगी के इस क्रूर एवं अमानवीय यथार्थ को एक—एक शब्द, वाक्य के जरिये कितना सहज तरीके से रख देता है। यह कहानी पंजाब के आतंकवाद के साये में काम कर रहे उन खेतिहर मजदूरों की है जो अपने मूल स्थान की संस्कृति और सामाजिकता को छोड़कर आर्थिक कारणों से प्रवर्जन करते हैं कि नयी सामाजिक—आर्थिक व्यवस्था में अनजाने हाशियें की जिंदगी जीने को विवश है।

रचना में मौजूद, यथार्थ की यह वही भाषा है जिसकी चर्चा करते हुए प्रसिद्ध संरचनावादी विचारक रोकन याकोब्सन ने अपनी भाषा संबंधी मॉडल में सात तरीके से व्यक्त किया है – संबोधक, संपर्क, संबोधित, संदर्भ, संदेश, संकेत और निष्कर्ष। इस मॉडल के अनुसार, यहाँ खेतिहर मजदूर 'संबोधक है, जो अपनी माँ के 'संपर्क' में आने के बाद उसे 'संबोधित' करते यह 'संदेश' देता है कि मालिक उससे दिन–रात काम करवाते हैं। अब उसकी माँ उसके इस 'संदेश' को किसी और 'संदर्भ' (Context) में लेती है तथा चाय में अफीम मिलाने को पुत्र के जीवन के साथ खिलवाड़ करने का 'संकेत' (Code) मानते हुए यह 'निष्कर्ष' (Conclission) निकालती है कि बाहरी मालिक कितना अत्याचारी है। पूरे संदर्भ को बयान करने के लिए कहानीकारण अरूण प्रकाश ने कही वाचक के जरिये तो कहीं वृत्तांत के माध्यम से समकालीन समय में खेतिहर मजदूरों (Agricluture Labour) की सामाजिक स्थिति का बयान किया है। रचनात्मक स्तर पर भाषा के माध्यम से जिंदगी के यथार्थ की प्रस्तुति समकालीन के पूर्व की कहानियों में एकदम अनुपस्थित है।

दरअसल समकालीन कहानीकारों ने कथा–रचना की प्रक्रिया में प्रेमचंद की किस्सागोई शैली को तो अपनाया है जो मिथिलेश्वर, संजीव, पंकज बिष्ट, उदय प्रकाश, अखिलेश, अवधेश प्रीत आदि कहानीकारों की मुख्य विशेषता है। परंतु, खास बात यह है कि समकालीन कहानी के पहले के कहानीकारों में किस्सागोई की इस शैली में थोड़ी–बहुत कल्पना का 'पुट' हुआ करती थी। इस थोड़ी–बहुत कल्पना के पुट को इधर के कहानीकारों ने उतार फेंका है तथा उसे यथार्थ की कसौटी पर कसते हुए उसके लिए नई भाषा शैली और संकेतों को महत्त्व दिया है। उदाहण के लिए, यदि पंकज बिष्ट की कहानी 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते ?' में टी.वी. देखते हुए रघुवा को टी.वी. से गोली चलने के अहसास को कहानीकार यह कहकर प्रकट करता है कि "हाँ, गोली चलते उसने देखी थी – अपनी आँखों से।" तो इसका अर्थ यह नहीं कि बिशन की मृत्यु टी.वी. से गोली चलने से हुई; बल्कि कहानीकार इस कहानी की भाषा और उसके रचना के जरिये उपभोक्तावादी समय में रह रहे उस मध्यवर्ग की विज्ञापन की दुनिया के भय और आतंक को दिखाने की कोशिश की है जो नयी आर्थिक–सामाजिक व्यवस्था में वित्तीय बाजार रच रहा है।

इसी प्रकार, अखिलेश की कहानी 'बायोडाटा' में बायोडाटा शब्द के पारंपरिक अर्थ के समानांतर जो अर्थ और प्रभाव निर्मित किया है, उसे कौन अपनाना चाहेगा ? कारण यह अर्थ पारंपरिक सामाजिक जीवन की नैतिकता से एकदम भिन्न है तथा कहानी के माध्यम से उस समाज की भाषा और उसके 'मन' का चित्रण करता है जिसे आज की राजनीति रच रही है। लगता है कि यह भाषा कहानीकार खुद नहीं रच रहा है अपितु, उसे समकालीन स्थितियाँ रचने के लिए बाध्य कर रही है।

यह कैसा समाज है ? उसकी सोच कैसी है ? भाषा कैसी है ? पर ऐसा आज राजनीति की दुनिया में रहा है। टिकट और पार्टी में पद पाने के लिए आम आदमी लगातार ऐसा होता जा रहा है और उसका लगातार ऐसा होता जाना उसकी नियति है यदि उसे राजनीति में रहना है तो ! ऐसी स्थितियों का बयान न तो कहानी की प्रचलित और नैतिक मर्यादा में नियंत्रित भाषा में हो सकता था, न जीवन की बाहरी भाषा में ! यह तो उस मनःस्थिति की भाषा है जिसे समकालीन कहानीकारों ने कलात्मक तरीके से रचा है। कारण, इसे पढ़कर आप संबंधित पात्र के प्रति घृणा से ही नहीं भर जाते हैं, अपितु, उसकी नियति पर पश्चाताप भी करते हैं। यह कहानीकार की कला है कि वह आपके अंदर 'घृणा' के साथ–साथ पश्चाताप का भाव भी जाग्रत करता है।

वस्तुतः समकालीन कहानी की कला और भाषा की निर्मित कहानीकारों ने उस बदलते हुए समय एवं समाज को लेकर किया है जो हमारे बीच मौजूद है। यह पिछले तीन–चार दशकों से समाज और राजनीति में हो रही उथल–पुथल का हिस्सा है। यह समाज अब वही भाषा नहीं बोलता है जो प्रेमचंद अथवा नेहरू–युग तक की नयी कहानी की भाषा में दिखलाई पड़ता है; बल्कि समकालीन समय से संवाद एवं असंगत स्थितियों के खिलाफ प्रतिरोध करता है यह समाज वह भाषा बोलने लगा है जो वैश्विक है। न मन और न ही संस्कार उसकी इस भाषा को रच रहा है। बल्कि रच रही है समकालीन स्थितियाँ और मनुष्य इतना विवश है कि वह इनसे निकलने में अपने को असमर्थ पा रहा है। उदाहरण के लिए, इधर के कहानीकारों द्वारा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करना आम बात है। लेकिन खास बात यह है कि समकालीन कहानियों में अंग्रेजी में आये ये शब्द कहानीकार के अंग्रेजी ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते हैं और न ही पात्रों की मनःस्थितियों का बयान। बल्कि, अंग्रेजी शब्द और भाषा के जरिये कहानीकारों ने समकालीन समय के दबाव को उभारने की कोशिश की है। जैसे कि हमने पूर्व में 'बायोडाटा' शब्द पर विचार किया है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' का शीर्षक जिसका अर्थ 'विभाजन' है, कहानीकार ने हिंदी के शब्द के बदले अंग्रेजी के शब्द वे रखना अधिक उपर्युक्त समझा है तो दूसरा एक कारण समाज में इसका अधिक प्रचलन होना माना जा सकता है। पर, उससे अधिक इस कहानी में 'पार्टीशन' के जरिये लेखक ने समकालीन समय के उस बड़े यथार्थ को पकड़ने का प्रयास किया है जो 1947 के विभाजन और बाद में पनपे आतंकवाद एवं बाबरी मस्जिद के ध्वंस जैसी स्थितियों के कारण ''सांप्रदायिकता'' के रूप में हमारे समय में स्थापित हो गयी है। कहानी की यह एक बड़ी कला है।

दरअसल 'कला' को हमने कुछ सीमित परिभाषाओं में जकड़ रखा है। समकालीन लेखन और विचार की 'कला' की अनेक धारणाओं 'जैसे कहानी पा, कथोपकथन आदि) को लेखकों एवं विचारकों ने चुनौती दी है। दलित और स्त्री कथाकार इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। उनके यहाँ कहानी कला के मायने बदल गये हैं। उनके कला सौंदर्यबोध के सृजन का जरिया नही है बल्कि जिंदगी की मुश्किलों को समझने का जरिया है। अर्थात् हम जैसे हैं, हमें उसी रूप में स्वीकार करें। चाहे हमारी भाषा हो या रूप, विचार हो या चाले चलना। उसे जीवन के आधार पर मापे; पारंपरिक कला के नियमों से नहीं। अर्थात् यहाँ भाषा या उसकी बनावट, कथा के शास्त्र को समझने के लिए नहीं, बल्कि जीवन के यथार्थ को समझने और उसे व्यक्त करने के लिए है। प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय विचारक मिशेल जेराफा आदि यह कहते हैं कि कला में मनुष्य और सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उभरकर आता है तो कहीं–न–कहीं वह यही बताना चाहते हैं कि कला का वास्तविक अर्थ है, मनुष्य को परिभाषित करना। मार्क्सवादी विचारक मैनेजर पांडेय के शब्दों में ''समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य'' को रचना का विषय बनाना। (साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 227) आज की रचना में मौजूद भाषा भी कमोबेश यही काम कर रही है। यही कारण है कि समकालीन कहानीकारों ने कहानी की भाषा को साधा है और उसे जिंदगी के यथार्थ को समझने का महत्त्वपूर्ण जरिया बनाया है। यह समकालीन कहानी की कला की महत्त्वपूर्ण विशेषता है और जाहिर है, इसे निर्मित करने में सन् सत्तर के बाद के सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही हैं। चाहे वह किसानों और मजदूरों का आंदोलन हो अथवा स्त्री या दलितों का। सामाजिक समुदायों के विभिन्न आंदोलनों ने समकालीन कहानी की कला और भाषा को बुनियादी स्तर पर बदला है इसीलिए समकालीन कहानी की भाषा और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के रूपों को देखते हुए यह लगता है कि यह कहानीकारों के यथार्थवादी दृष्टि की ही अभिव्यक्ति है जिसे समकालीन सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनो ने रचा है।

20.6 सारांश

इस इकाई में आपने हिंदी साहित्य में कहानी के महत्त्व को समझते हुए 'समकालीन हिंदी कहानी' का अध्ययन किया है। आपने देखा कि साहित्य में 'समकालीन' का क्या अर्थ है! यह सिर्फ शब्द अथवा कला का प्रतीक नहीं है बल्कि यह एक विचार भी है जो समकालीन समझ के दबाव से अभिव्यक्ति के भिन्न–भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। कहानी भी उनमें से एक है। इसीलिए कहा जा सकता है कि समकालीन कहानी, समकालीन समय और विचार की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इसीलिए समकालीन कहानी का इतिहास भी अलग होगा। हमने इस इकाई में उसे सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनों एवं संघर्षों (जैसे–कृषि से जुड़े मजदूरों किसानों का संघर्ष, स्त्रियों एवं दलितों के सवाल से जुड़े आंदोलन आदि) से जोड़ते हुए 1990 के दलित, स्त्री, भूमंडलीकरण और बाजारवाद जैसे सवालों से जोड़कर समझने की कोशिश की है।

वस्तुतः समकालीन कहानी का इतिहास और स्वरूप उन गतिशील सामाजिक–वैचारिक निर्मितियों से भी निर्धारित होता है जिसे 'प्रवृत्ति' के रूप में रेखांकित करते हैं। आपने देखा कि समकालीन हिंदी कहानी में जो सवाल उभरकर आये हैं, उसे कहानीकारों ने गंभीरता के साथ पकड़ा और विचार किया है। चाहे वह सन् 67 के बाद कहानी में किसान, मजदूर, स्त्री आदि जैसे 'आम आदमी' का सवाल हो या नयी सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में बदलते हुए मध्यवर्गीय समाज की चिंताएं। स्त्री और पुरुष के जिंदगी में आ रहे बदलाव है। अथवा लोकतांत्रिक व्यवस्था के असंगत एवं दमनकारी प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रतिरोध की बात – समकालीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों में गंभीरता के साथ इन सवालों को उठाया है। इसीलिए समकालीन कहानी में किसान, मजदूर, स्त्री, दलित, आदिवासी, आप्रवासी समाज के साथ हाशिये के अन्य समाज का सवाल महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। इसके साथ ही अल्पसंख्यक समुदाय, समकालीन समय में सांप्रदायिकता जैसे सवालों से जिस तरह से रूबरू होता है तथा एक 'भय' एवं 'आतंक' का माहौल निर्मित होता है, आपने देखा कि उसे कहानीकारों ने कितना व्यवस्थित तरीके से उठाया है। 1947 के विभाजन में सांझी संस्कृति टूटी थी, समाज टूटा था, परंतु 1992 के बाबरी मस्जिद के बाद व्यक्ति टूटा, उसके आपसी प्रेम और लगाव समाप्त होने के कगार पर पहुंच गया। परिणाम यह हुआ कि आम आदमी पुनः 'मनुष्य' से किसी खास 'धार्मिक व्यक्ति' में तब्दील होने के लिए बाध्य होता गया। यह समकालीन समय का 'दबाव' और 'भय' ही था व्यक्ति और समाज उससे प्रभावित हुआ और कहानीकारों ने उसे रचना का विषय बनाया। हमने कई कहानीकारों की कहानियों पर विचार करते हुए देखा कि यह 'भय' व्यक्ति को कितना आतंकित करता है।

दरअसल, समकालीन हिंदी कहानी समकालीन समय के दबाव से निर्मित मनुष्य और समाज की कलात्मक एवं वैचारिक निर्मित है। आज जब समय तेजी से बदल रहा है और वित्तीय बाजार जीवन का अहम हिस्सा होता जा रहा है, तब साहित्य और कला की भूमिका बढ़ जाती है। समकालीन कहानी का अध्ययन अपने समय और समाज का भी अध्ययन करना है। आज इसीलिए समकालीन हिंदी कहानी साहित्य का एक जरूरी हिस्सा बन गयी है। इसे समझना आज के मनुष्य को समझना भी है। चाहे वह कहानी की भाषा हो या कला – आज की ज़िंदगी और उसके यथार्थ को समझने में मदद करती है। हिंदी के समकालीन कहानीकारों की कहानियों की भाषा और कहानी की संरचना को देखते हुए साफ पता चलता है कि यह भाषा और संरचना वहीं नहीं है, जो प्रेमचंद युग की कहानी या नयी कहानी की थी। यह भाषा, यथार्थवाद से निर्मित भाषा है और जिंदगी

के यथार्थ को समझने में मदद करती है। आपने देखा कि समकालीन कहानीकारों ने कैसे भाषा का रचनात्मक उपयोग किया है। इससे समकालीन हिंदी कहानी समृद्ध हुई है। समकालीन कहानी में 'वस्तु' और 'कला' के स्तर पर आये ये बदलाव यह संकेत करते हैं कि भविष्य की हिंदी कहानी का स्वरूप क्या होगा।

अभ्यास

1. समकालीन हिंदी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए।
2. समकालीन का अर्थ क्या है ? समकालीन हिंदी कहानी की आलोचना और विचारधारा को ध्यान में रखते हुए विचार कीजिए।
3. समकालीन हिंदी कहानी की मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या है ? विचार करें।
4. समकालीन हिंदी कहानी में हाशिये के समाज का विश्लेषण कीजिए।
5. समकालीन हिंदी कहानी अपने समय और विचार की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इस कथन के संदर्भ में समकालीन हिंदी कहानी पर विचार दें।
6. समकालीन हिंदी कहानी की भाषा और कला पर विचार कीजिए।

उपयोगी पुस्तकें

1. मधुरेश : सिलसिला (समकालीन कहानी की पहचान); प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1979
2. विश्वनाथ त्रिपाठी : कुछ कहानियां : कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1998
3. जानकीप्रसाद शर्मा : कहानी का वर्तमान, राजसूर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1998
4. देवेंद्र चौबे : समकालीन कहानी का समाजशास्त्र,प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2001
5. मधुरेश : हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2005
6. लीलाधर मंडलोई : श्रेष्ठ हिंदी कहानियां (1970–1980) स्वयं प्रकाश (सं.) और (1980–1990), पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लि., नयी दिल्ली, 2010
7. रवींद्र कालिया (सं.) : वर्तमान साहित्य, कहानी महाविशेषांक, अप्रैल और मई 1991 (दो भाग) (सं.) सेवक राम यात्री, विभूतिनारायण राय, गाजियाबाद
8. गंगा प्रसाद विमल : समकालीन कहानी का रचना विधान, सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, 1967

9. ऋषिकेश एवं राकेश रेणु (सं.) : समकालीन परिभाषा (समकालीन हिंदी कहानी पर केंद्रित विशेषांक), जुलाई–दिसंबर, 1991

10. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : साहित्य सहचर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

11. वर्मा, धीरेंद्र (प्र. संपादक) : हिंदी साहित्य कोश, भाग–2, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी

12. मधुरेश : हिंदी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

13. हिंदी कहानी का इतिहास (भाग–2), गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

14. हिंदी कहानी का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

15. नई कहानी नए सवाल, सत्यकाम, अनुपम प्रकाशन, पटना।

16. हिंदी कहानी : पहचान और परख, इन्द्रनाथ मदान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।